# साहित्य की झाँकी

प्रो० सत्येन्द्र, एम० ए०,

# साहित्य की झाँकी

# साहित्य की झाँकी

लेखक

मुक्ति-यज्ञ, कुनाल तथा गुप्तजी की कला आदि के रचयिता

प्रोफेसर 'सत्येन्द्र', एम० ए०

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

प्रकाशक
महेन्द्र, सञ्चालक
साहित्य-रत्न-भण्डार,
सिविल लाइन्स, आगरा ।

| द्वितीय संस्करण ६२५ | कार्तिकी पूर्णिमा १९९५ नवम्बर १९३८ | मूल्य बारह आना |
|---|---|---|

मुद्रक
साहित्य प्रेस,
सिविल लाइन्स, आगरा ।

# विषय-सूची



कुल पृष्ठ संख्या २००

# प्राक्कथन

◆◆◆◆

इस प्राक्कथन के द्वारा अपने प्रिय मित्र श्री सत्येन्द्रजी की एक उत्तम साहित्यिक कृति के साथ जिसका हिन्दी जगत में उचित सम्मान हुआ है, अपने आपको सम्बन्धित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है। साहित्य जीवन की पवित्र साधना है। साहित्य के लिए ही जीवन की शक्तियों को समर्पित करना, और मन और बुद्धि की सूक्ष्म प्रेरणाओं और वृत्तियों को साहित्य की आराधना में केन्द्रित करना—यह जीवन पद्धति अत्यन्त प्रशस्य है। प्राचीन आचार्यों ने जो यह लिखा है कि साहित्य की उपासना से शीघ्र ही मोक्ष या परम निर्वृति प्राप्त हो सकती है, यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है। साहित्य स्वयं एक पूर्ण वस्तु है। साहित्य के उपासक को उसी के द्वारा पूर्ण कल्याण के मार्ग की प्राप्ति सम्भव है। इस दृष्टि से साहित्यिक का जीवन ज्ञान, भक्ति और कर्म के द्वारा पृथक्-पृथक् विविध क्षेत्रों में कार्य करने वाले अन्य मनुष्यों से पूर्णता में कम नहीं रहता। वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास, तुलसीदास, सूरदास—

इन साहित्यिकों ने साहित्य के द्वारा ही जीवन की उस परमोच्च गति को प्राप्त किया था जो योगादिक के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

प्रायः कहा जाता है कला, कला के लिए है। यह ठीक है। साहित्य भी साहित्य के लिए है। इस लोक-धारणा का यथार्थ अभिप्राय यह है कि कला अपने में पूर्ण है। साहित्य अपने आप में पूर्ण है। कला-साहित्य, दोनों ही अध्यात्म जीवन के अंग हैं। दोनों के मूल में ब्रह्म है। कला में वह सौन्दर्य रूप से और साहित्य में रस रूप से अभिव्यक्त होता है। प्राचीन मनीषियों ने अपनी विद्याओं का वर्गीकरण करते समय प्रत्येक विद्या का उद्‌गम स्थान और प्रत्येक कला का स्रोत जो वेद या ब्रह्म को माना है वह सार्थक ही है। वेद ब्रह्म का ही ज्ञानमय तप है। उनके इस एकीकरण का गूढ़ अभिप्राय यही है कि अपनी-अपनी रुचि की विचित्रताओं के कारण कला और साहित्य के अगणित ऋजु-कुटिल मार्गों से चल कर अन्ततोगत्वा हमको एक ही ध्येय या प्राप्तव्य स्थान में पहुँचना है। उस एक ध्येय या प्राप्तव्य स्थान को रुचिभेद और दर्शन-भेद के कारण हम अनेक नामों से पुकारते हैं। ये ही हमारी कला, साहित्य, एवं जीवन के भी, उद्देश्य हैं। आचार्य मम्मट के शब्दों में उसे 'पर निर्वृति' कहें, अथवा उपयोगितावादी दार्शनिकों के मत से 'लोक-कल्याण' कहें, अन्तिम समन्वय में कुछ भी भेद नहीं है।

किसी भी देश और काल का साहित्य हो, उसकी सफलता

को जांचने के लिए ऊपर निर्दिष्ट मौलिक उद्देश्य की कसौटी को सामने रखना आवश्यक है। साहित्यकार की कृति कितनी सफल और कितनी टिकाऊ है इसकी परीक्षा इसी बात पर निर्भर है कि वह कितने अधिक परिमाण में अपने 'नित्य ध्रुव उद्देश्य' को आत्मसात् कर सकी है।

साहित्य की ऐतिहासिक विवेचना और समालोचना अर्वाचीन विचार शैली के अनिवार्य अंग हैं। इनके द्वारा किसी प्राचीन या नवीन रचना की परीक्षा करके यदि हम यह बता सकें कि उसके द्वारा साहित्य के नित्य तत्त्व का कहाँ तक उपकार हुआ है, तो यह प्रयत्न बहुत ही श्लाघनीय माना जाना चाहिए। हमारी हिन्दी भाषा के नवाभ्युत्थान में इस कोटि के परीक्षणपरक साहित्यिक ग्रन्थों की अत्यन्त आवश्यकता है। जितनी अधिक संख्या में व्रती साहित्यिक इस ओर प्रवृत्त हों उतना ही श्रेयस्कर है। अवश्य ही आलोचना के क्रमिक विकास और संवर्धन के द्वारा गुण दोष विश्लेषण की पद्धति की रूपरेखाएँ उत्तरोत्तर सुस्पष्ट होती जायँगी, तथापि वर्तमान कालीन प्रारम्भिक प्रयत्न भी हमारे लिए कम उत्साह और आशा का आवाहन नहीं करते। सत्येन्द्रजी की लेखनी से भविष्य में हमें और भी प्रौढ़तम रचनाओं की आशा है, विशेषतः सूर और तुलसी के साहित्यिक व्योम में, जहां वे परिचित से जान पड़ते हैं, और भी ऊंचा उड़ने के लिए हम उनका आमन्त्रण करते हैं।

मथुरा<br>१ मार्च १९३८

वासदेवशरण<br>(एम०ए०, क्यूरेटर म्यूजियम)

# साहित्य की झाँकी

## गवाक्ष

साहित्य अमर ज्योति है। उसमें अनन्त प्रकाश है। उसके सार्वभौम विस्तार को हम सुविधा के लिए क्षेत्रों में बाँट लेते हैं।

हिन्दी भाषा में भी उसका एक क्षेत्र है।

साहित्य से परिचित होने के लिए दर्शन की आवश्यकता है। दर्शन की प्रवृत्ति तर्कपूर्ण युक्तिमत्ता और ऐतिहासिक गवेषणा के पथ से अग्रसर होती है। साहित्य में इस विधि से हम यह जानना चाहते हैं कि उसमें बिखरी हुई मूल प्रवृत्तियों में कोई मौलिक सहजत्व और तारतम्य है क्या? क्या उन्हें हम 'प्रवृत्ति' कह भी सकते हैं? इस के साथ ही एक बात और अपेक्षित है। साहित्य में कुछ नाम प्रतीक की तरह आते हैं। कवि उस नाम मात्र से एक विशद व्याख्या उपस्थित करता है।

मूल की भाँति वह नाम न जाने कितने अर्थ गाम्भीर्य और शक्ति-शालीनता को अपने लघु कलेवर में निहित रखता है। कवि और उसके साहित्य से समुचित परिचित होने के लिए इन नामों की उस व्याख्या की गहराई को नापना कितना आवश्यक है! रस्किन ने कवियों और उनके द्वारा साहित्य की अमर ज्योति के अन्तर्दर्शन की प्रणाली अपने Sesame Of The Kings Treasuries नामक व्याख्यान में प्रतिपादित की थी। वहाँ उसका अभिप्राय शब्द की भाषा-वैज्ञानिक रूपान्तरगत शक्ति तक ही था। कुछ-कुछ उसने शब्द-शक्ति को भी लिया था। मिल्टन की एक कविता में आये हुए Creep, Intrude और Climb, इन शब्दों के महत्व में उसने पिछली बात को स्वीकार किया था। इससे आगे भी एक बात होती है— प्रतीकों की व्याख्या। टैनीसन के सर गैलेहैड के शौर्य के अभीष्ट 'Grail' (रक्त-पात्र) की व्याख्या न तो भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण से हो सकती है; न शब्द-शक्ति की ध्वनि से। Grail का इतना महत्व क्यों दिया गया, उसमें उस महत्व की भावना कब से और क्यों आयी? इन पृच्छाओं की संतुष्टि ऐतिहासिक दार्शनिकता से ही हो सकती है। हिन्दी के कवियों और साहित्य को अध्ययन करने के लिए भी इसी प्रणाली की आवश्यकता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास पर कई ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं, कुछ विवेचनात्मक भी लिखे गये हैं। उनके रहते हुए भी हिन्दी साहित्य के रूप का ठीक विकास समझ में नहीं आता। उसका

एक बहुत ही महत्व-पूर्ण अंश हमारे सामने से ओझल रहता है। कालों में साहित्य का विभाजन और उसी दृष्टि से उनका विवेचन साहित्य के यथार्थ रूप को समझने में असमर्थ है। हिन्दी-साहित्य के ऐसे ही इतिहासों से कुछ लोगों के दो प्रकार के भाव हो गए हैं। एक तो यह कि हिन्दी-साहित्य में विकास का सूत्र नहीं, उसमें क़लमें लगायी गयी हैं। दूसरे भारतीय साहित्यिक वातावरण में उसका कोई क्रम-युक्त स्थान नहीं। किन्तु ऐसा नहीं है। हिन्दी-साहित्य में विकास की धारा है। एक भाव बीज रूप से अंकुर रूप होता हुआ वृक्ष में परिणत होता देखा जाता है। साथ ही उसमें काल और परिस्थितियों का सहयोग भी मिलता है।

पृथ्वीराज रासो और बीसलदेव रासो जैसे ग्रन्थों में मिलने वाली प्रेम-कहानी जायसी और अन्य प्रेम-आख्यान-काव्य-मार्गी कवियों की कहानियों का मूल है और वह कहानी भी साधारण जनता की वस्तु है। इस प्रकार सूफियों की प्रेम कहानियाँ रासो के बाद अनायास ही नहीं उभर पड़ीं, उन कहानियों द्वारा प्रेम की पीर उत्पन्न की गयी। प्रेम की पीर ने प्रेमी की अपेक्षा अनुभव करायी और भक्त कवियों ने 'साकार' रूप खड़ा कर दिया—यह बात हमारी पुस्तक के पहले निबन्ध में व्यक्त की गयी है। इससे रासो अथवा चारण—काल, प्रेमगाथा काल और भक्ति काल सुशृंखलित प्रतीत होने लगेंगे। यों तो अनेक समस्याएं रासो और प्रेमगाथा, साथ ही निर्गुणवाद में

विचारणीय हैं। पर भक्ति के साकार रूप की समस्या हिन्दी साहित्य के लिए विशेष महत्व की है। इसलिए इस पर ही इस पुस्तक में विचार किया गया है। साकार कई रूपों और भावों में ग्रहीत हुआ है। इन सान्तर रूपों और भावों से साहित्य में अभिव्यञ्जनाओं और कला में भी मौलिक अन्तर उपस्थित हो जाता है। सूर और तुलसी की कला के रूपान्तरों की कुञ्जी ये सान्तर–रूप और भाव ही हैं। वैदिक काल से तुलसी और सूर तक 'विष्णु' किन किन अवस्थाओं में हो कर पहुँचा–उसे तुलसी ने किस रूप में ग्रहण किया, और सूर ने किस रूप में, इसे ऐतिहासिक दार्शनिकता ही बतला सकती है। यह जान कर हम केवल सूर और तुलसी की कला की ठीक-ठीक व्याख्या ही नहीं कर सकते। यह भी समझ सकते हैं कि हिन्दी के प्रतीक अपने अपने इतिहास में अनेकों सहस्राब्दियों के विश्वासों और संस्कृतियों को छिपाये हुए हैं, दूसरे और तीसरे निबन्धों से यह बात प्रतीत होगी। सूर और तुलसी इन दोनों की कला को ठीक ठीक समझने में कुछ कठिनाइयाँ आती हैं। ऐतिहासिक परिस्थितियों और उनके सम्पूर्ण विषय का सिंहावलोकन न होने के कारण कभी कभी बड़ा अनाचार हो सकता है। कवि की कला का पृष्ट-भाग एक कुहासे से आवृत हो अस्पष्ट दीखता है और इससे कलाकार के अभूत अङ्कों को भी समझना कठिन हो जाता है। हिन्दी साहित्य को ठीक रूप में देखने के लिए केवल कुछ ऐसे भ्रमों का निवारण और उनका शिव-स्वरूप उपस्थित

करना चौथे और आठवें निबन्ध का उद्देश्य है। यहाँ तक तो हिन्दी के भक्त-हृदय की झाँकी है—और आगे! आगे है हमारे वर्तमान की कथा। वर्तमान की भी केवल मूल और प्रबल प्रवृत्तियों का अंकन है। कहानी नाटक और समालोचना यही त्रयी इस युग की विशिष्ट अधिष्ठात्री है। इन्हीं में कलाकार की अभिनव सौन्दर्य श्री अधिकांश मुखरित हुई है। इस युग ने अपनी सम्पत्ति का मौलिक उद्गार इसी त्रिपिटक में विशेषता से उपविष्ट कर दिया है—और पाँचवें, छटे और सातवें निबंधों में इन्हीं के भीतर की बात कही गयी है।

पहले संस्करण में 'आधुनिक-काल' के संबंध में केवल एक लेख था—हिन्दी नाटकों में हास्य रस।

आधुनिक काल में 'नाटक' तो लिखे गये हैं पर उनमें हास्य-रस का समावेश एक अपवाद की तरह है। यह स्मरण रखने की बात है कि नाटक इस काल का एक अंग मात्र है। साहित्य का बहुमुखी विकास नाटकों पर लिखने भर से नहीं समझा जा सकता। फिर उसमें भी केवल हास्य-रस पर लिखते हुए उसका परिदर्शन कराना तो और भी दूर की बात है। यद्यपि इस लेख में साहित्य की विभिन्न परिभाषायें किन अवस्थाओं में होकर रस-प्रतिष्ठा की ओर अग्रसर हुईं तथा योरोपीय और भारतीय नाटकों के दृष्टिकोणों में क्या मौलिक भेद रहा, इसका परिचय मिल जाता था और आधुनिक काल के कुछ महान् लेखकों का परिचय भी इस लेख के बहाने मिल ही जाता था। फिर भी

आधुनिक काल पर कुछ विशेष कहे जाने की आवश्यकता प्रतीत होती थी।

इसी अभाव की पूर्ति के लिए दो नये निबंधों का संकलन और किया गया है। इनसे कुछ अधिक विस्पष्टता से इस युग का रूप प्रत्यक्ष हो सकेगा ऐसी आशा है। यह पूरा अन्तर्दर्शन नहीं। पूरा-पूरा दर्शन करने के लिए बहुत अवकाश की आवश्यकता होती है! यह तो उसकी झाँकी है।

शेष दो लेख हैं: 'अष्टछाप' और 'भूषण कवि और उनकी परिस्थिति'। भूषण के समय रीतिकाल पूर्ण उत्कर्षण पर था। भूषण उसका होता हुआ भी, उसका 'अपवाद' था। अपवादों से विषयों का अध्ययन बड़ा मनोरञ्जक होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भूषण की कला को समझने के लिए तत्कालीन ऐतिहासिक और साहित्य की धाराओं को भी समझने का उद्योग किया गया है, फिर भी यह निसंदेह सत्य है कि उसमें साहित्य की मूल प्रवृत्तियों की व्यापक परिभाषा नहीं।

इस प्रकार अध्ययन शैली का स्वरूप उपस्थित करने और साहित्य के अमर रूप और उसके धारा रूप की झांकी कराने के लिए ही यह रचना प्रस्तुत की गई है। आशा है पाठक इस गवाक्ष में से इस साहित्य की झाँकी का अवलोकन कर इससे सम्यक लाभ उठावेंगे।

# सा
# हि
# त्य
# की
# झाँकी

— १ —

## हिन्दी में भक्ति-काव्य का आविर्भाव

पृथ्वीराजरासो में ऐतिहासिक आधार में काल्पनिक कहानियों का कहीं-कहीं रंग भरा गया है। वह उस वीर-वर्णन और युद्ध-कथा को कुछ अधिक साहित्यिक, सुन्दर और रोचक बनाने के लिए किया गया है। ये कहानियाँ, मुख्यतः पद्मावती के विवाह की, कवि की अपनी कल्पना प्रतीत नहीं होतीं। ऐसी कथाएं कहानी के रूप में साधारण जन-समुदाय में अवश्य ही प्रचलित रही होंगी।

भारत कहानियों का जन्म-स्थान है। * यहीं से कहानियों की कला ने सबसे पहले मनुष्य के मनोरंजन का एक नया द्वार खोला। चौपालों पर बठे हुए, अगिहानों पर तापते हुए जीवन-यात्रा से विश्रान्त वृद्ध राजा-रानी और उनके विवाह की रोचक कहानियाँ अपने लोच-भरे लहजे में, जीवन-क्षेत्र के नये पटेवाज़ों को सुनाया करते थे। चन्द बरदायी की पद्मावती की कहानी का ढाँचा कहीं वहीं से लिया गया होगा।

रासो के इस भाग में कुछ ध्यान देने योग्य बातें हैं।

'पद्मावती पृथ्वीराज को चाहती है'। पृथ्वीराज के पास तोते के द्वारा सूचना भेजती है। पृथ्वीराज सेना सजाकर पद्मावती से विवाह करने जाता है। विवाह होजाता है।'

इसमें दो बातें मूलतः मिलती हैं। एक, स्त्री का पुरुष के प्रति प्रेम; दूसरे, एक पक्षी का दूत की भाँति सम्वाद वाहक बनना।

प्रेम-मार्ग के काव्य में भी हमें यह ढाँचा दीख पड़ता है। जायसी पद्मावत में पद्मावती रत्नसेन को चाहने लगती है। हीरामन तोता उन दोनों के मिलन का साधन है। रत्नसेन घर-बार छोड़कर अनेक कष्ट झेलता हुआ सिंहल पहुँचता है। अन्ततः पद्मावती से विवाह कर घर लौट आता है।

---

*India's Past—This (Folklore) is in fact the most original department of Indian literature.

जिस प्रेरणा ने, पृथ्वीराज रासो में, चन्द बरदायी को पद्मावती की कहानी उस युद्ध के युग में लिखने को तत्पर किया, वह जायसी के समय, १५६७ तक, पूर्ण परिपक्व होगयी। यह तो नहीं कहा जा सकता कि रासो में चन्द बरदायी की प्रतिभा से उत्पन्न कृति के ही अनुकरण से अथवा उसी से बीज पाकर प्रेम-मार्ग प्रस्फुटित हुआ, क्योंकि प्रेम-मार्गी कहानियों के स्वभाव में और भी कितनी ही विशेषताएँ मिलती हैं जो रासो की कहानी में नहीं। इतना तो फिर भी निःसंकोच कहा जा सकता है कि लौकिकता की यह क्षीण धारा बहुत पहले से चली आ रही थी—रासो में वह अनायास ही कुछ उछल पड़ी। परन्तु राजनीतिक वातावरण की कुछ शान्तिमय व्यवस्था होते ही तीन या चार शताब्दियों बाद वही धारा बड़े वेग से प्रस्रवित होकर साहित्य-क्षेत्र को सींचने लगी।

प्रेम-मार्ग के काव्यों में केवल राजा-रानी के प्रेम का ही वर्णन नहीं—इसकी कुछ और भी विशेषताएँ हैं।

जिस युग में प्रेम-गाथाओं का आरम्भ हुआ वह धार्मिक पुनरुत्थान का युग था। भारतवर्ष में पश्चिम की एक नयी और जोशीली संस्कृति अपने पैर जमा चुकी थी। मुसलमानी सभ्यता को आये कई शताब्दियाँ होगयी थीं—वे अब भारत-सन्तान थे, वे अब अरब के निवासी नहीं रहे थे। परन्तु उनके और हिन्दुओं के मत में संघर्ष बराबर जारी था। वह दोनों में भीषण

शत्रुता पैदा कर रहा था। एक के हृदय में दूसरे के लिए किंचित प्रेम नहीं था–वे दोनों कब आपस में प्रेम करना सीखेंगे ? यह अनेकों सहृदयों के हृदय में उस समय प्रश्न उठता था।

दोनों में शत्रुता का मूल कारण था धार्मिक-विरोध। मुसलमानों के आक्रमणों से पूर्व भी अन्य जातियों ने भारत पर आक्रमण किये थे, वे यहाँ आयीं और भारत की होगयीं। उनका कोई अलग मत न था। वे यहां हिलमिल गयीं। परन्तु मुसलमानों ने केवल राज्य-लोभ, धन-लोभ अथवा अन्य किसी पदार्थ सम्बन्धी लोभ से ही आक्रमण नहीं किये थे। धार्मिक परिणति करना और अपने सत्य धर्म का प्रचार करना उनका मुख्य ध्येय था। उनका सारा उत्साह धर्म-मय था। इधर हिन्दुओं में उत्साह शिथिल भले ही रहा हो परन्तु धर्म उनकी सभ्यता और संस्कृति के साथ रक्त में भिद गया था। उनके समाज के शरीर के ढांचे की हड्डियाँ धर्म की बनी हुई थीं–इससे दोनों में घोर विरोध था। इसे सज्ञान मनुष्य भी देख रहे थे, सहृदय मनुष्य भी देख रहे थे।

सज्ञान मनुष्यों के तर्क को इस समय की स्थिति असहनीय थी। सभी एक ईश्वर के पुत्र हैं, फिर एक दूसरे का गला क्यों काटा जाय ? मन्दिर-मसजिद के नाम पर झगड़ा होता है। ईश्वर की सर्व व्यापकता में बट्टा लगाने वाले ये गृह न हों वही अच्छा है। दोनों दलों का वैमनस्य मिट जायगा। हिन्दू भी एक ईश्वर मानते ही हैं, मुसलमान भी मानते हैं। फिर झगड़ा क्यों हो? ऐसे ही और भी अनेकों प्रश्न उठते थे।

एक ओर सहृदय दल था, वह भी दुखी होता था। अरे! क्या इनके हृदय नहीं! प्रेम का झकोरा सारे भेदों को बहा देगा, यदि ये जान जायँ कि प्रेम क्या है? वह व्यापक प्रेम जो परम प्रेम का साधक है, क्यों न इनको बतलाया जाय? अतः ज्ञानियों ने अपना काम किया। उनका मार्ग ज्ञान-मार्ग कहलाया, और सहृदयों का प्रेम-मार्ग। इन दोनों का आधार धर्म है, एक में कुछ रूखा और दूसरे में सरस।

इस राजनीतिक स्थिति का साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। साहित्य में कबीरदासजी से काव्य की ज्ञान-मार्गी शाखा आरम्भ हुई। इस ज्ञान-मार्ग पर भक्ति का प्रभाव था।

कबीरदासजी ने जिस क्षेत्र में से अपने लिए सामग्री जुटाई थी, उस क्षेत्र में भक्ति की सम्भावना होचुकी थी। भारत में पूर्व-पुनर्जागृति की उत्ताल लहरें हिलकोरे ले उठी थीं। उनका ज्ञान-मार्ग उपनिषदों की कंकरियों की नींव पर खड़ा हुआ था।

वैदिक काल में प्रकृति के विभिन्न व्यापारों में दैवी शक्ति की प्रतिष्ठा की गयी। उन विविध-प्रकृति दैवी शक्तियों में उन्हें एक ब्रह्म की सत्ता दिखायी पड़ी। उस ब्रह्म-सत्ता का विवेचन उपनिषदों में हुआ। उस समय 'ब्रह्म' नामक व्यापक शक्ति का नया संस्कार हुआ था। 'केन उपनिषद्' में हमें स्पष्ट ही यह नवीनता दिखलायी पड़ती है। उसमें विचित्र कथानक द्वारा ब्रह्म की अद्भुत सत्ता को समझाने का यत्न किया गया है। उस

समय अपूर्व तेजवान ब्रह्म को देखकर इन्द्र, अग्नि, वायु आदि वैदिक प्रकृति-देव आश्चर्य में पड़ गये थे। वे नहीं जानते थे कि यह नवोद्भासित शक्ति क्या है? साहस-पूर्वक उनमें से एक-एक बारी-बारी परिचय प्राप्त करने गया—इस कथा में यह स्पष्ट लिखा है कि प्रसिद्ध वैदिक देव उस अपूर्व तेजमय ब्रह्म से अनभिज्ञ थे। वह उनके लिए एक नई वस्तु थी। वह उन्हें आश्चर्य में डालने वाली थी, अतः उसका परिचय पाने की उन्हें उत्कण्ठा हुई। यह ब्रह्म था और उपनिषदों ने उसे खोजा।

उपनिषदों की शिक्षा के विधान में 'ब्रह्म' को जानने की विद्या अत्यन्त गोपनीय और रहस्य पूर्ण समझी गयी है। जगत के विभिन्न व्यापारों में व्याप्त वह 'एक' रूप, रेखा और नाम का विषय नहीं हो सकता। इसलिये वह स्थूल–बुद्धि से नहीं समझा जा सकता। सूक्ष्म–बुद्धि की आवश्यकता है—वह सूक्ष्म–बुद्धि जो शुद्ध हो, इस मायावी संसार के कलुष से दूषित नहीं। यह सूक्ष्म–बुद्धि भी उसका पूरा ज्ञान नहीं पा सकती क्योंकि वह केवल ज्ञान का विषय नहीं। वह अनुभव किया जा सकता है। उसका अनुभव आनन्द-विभोर करने वाला है। अतः सूक्ष्म-बुद्धि भी उस समय विमोहित हो जाती है, वह अपने को भूल जाती है। पीछे कुछ अनुमान से, कुछ उस आनन्द के संस्कारावशेष से वह सूक्ष्म–बुद्धि अपनी दशा का ज्ञान प्राप्त कर सकती है—उस 'एक' का ज्ञान फिर भी नहीं पा सकती! इसी कारण उपनिषदों

में कहा गया है कि उसे 'न जानने वाला ही जानता है ।' वह केवल अनुभव की वस्तु थी; वह हृदय की वस्तु थी । वह भक्ति से ही शीघ्रतापूर्वक पायी जा सकती थी ।

'एकत्व' में विसर्जित होने वाले कर्मों में भक्ति का समावेश अवश्य हो जाता है । 'एक' की ऐसी प्रधानता जो असंख्य मानवीय सत्ताओं को लुंज बनाकर अपना प्रभुत्व स्थापित करे, बिना उसके अपने विशेष आकर्षण के नहीं हो सकती । यह आकर्षण हृदय को अभिभूत करता है । उसके सारे रस को निर्विवेक अपनी ओर खींच लेता है-और भक्ति को उत्तेजना देता है ।

ईसाई मत में 'एक' की प्रधानता है, उसमें भक्ति का प्राचुर्य है, बौद्ध धर्म में एक बुद्ध भगवान् की प्रतिष्ठा है । अतः वहां भक्ति की प्रधानता है । उपनिषदों में एक ब्रह्म की सत्ता का निरूपण किया गया, उसको प्राप्त करने के लिये गुरु से उपनिषद् ( रहस्य ) का ज्ञान पाना आवश्यक था, अतः इसी काल से भक्ति का सूत्रपात हुआ । उपनिषदें ईसा से कई शताब्दि पहले निर्मित हो चुकी थीं । उन्हीं में, संकेत रूप में उपस्थित भक्ति, महाभारत काल में विकसित हुई-इस अन्तिम अवस्था ने अपनी भक्ति का रूप और प्रकृत कर लिया-उसे साकार कर दिया ।

मुसलमानों के नये संस्कार की छाप ने पुराने संस्कारों के लिए तड़प पैदा करदी । उनके एकेश्वरवाद से मुठभेड़ करने के लिए उपनिषदों के 'अद्वैत' की बड़ी उत्सुकता से पुकार मचायी

गयी। व्यवहार का संकोच हटाया गया। वर्ण-भेद की व्यवस्था का मूलोच्छेदन तो नहीं किया गया, परन्तु शूद्रों के धार्मिक अधिकारों में उदारता से काम लिया गया। वे भी अब भगवान् से मुक्ति माँग सकते थे। नये धर्म के संघर्ष से रक्षा करने के लिए इस काल में उपनिषदों और महाकाव्यों के मार्ग पर भक्ति-मत का प्रचार किया गया। यह युग इसलिए, भक्ति-उन्मुख-युग था। 'प्रेममार्ग' के ग्रन्थ इस धर्म और भक्ति के प्रभाव से शून्य नहीं रह सकते थे। इस मार्ग के साहित्य में 'लोक-पक्ष' में रोचक प्रेम-कहानियों को लेकर धर्म और भक्ति का पुट मिलता है।

वीरगाथा काल में वीरत्व के पदार्थ ओज को प्रकट करने के लिए जिन जीवट और साहस सम्बन्धी भीषणताओं को रासो जैसे काव्यों में कवियों ने उपस्थित किया—उन्हीं के अवशेषों की भांति, मानो प्रेम-कहानियों में प्रेमी की कठिनाइयों की सृष्टि की गयी। मूल में रणवीरता ने इन कहानियों में प्रेम की वीरता का बाना पहन लिया। वीरता, तो रही, केवल उसका क्षेत्र और रूप बदल गया।

प्रेम-गाथाओं के लिखने वाले अधिकांश मुसलमान सूफ़ी फ़क़ीर थे। इनका मत उदार था। अपनी बात को सीधी तरह सच्ची तरह रखना वे जानते थे। किसी को बुरा-भला कहना इन्हें पसन्द न था। हिन्दुओं के वेदान्त की तरह ये 'अल्लाह' को अद्वैत मानते थे। उसको पति समझ कर उसी के व्यापक प्रेम से सारे संसार को रँगा हुआ देखते थे। और, इन्हें विश्वास था कि

इस प्रेम में जो रँग गया, जिसने इस प्रेम को पा लिया, वह दुखी नहीं रह सकता। फिर उसे किसी से शिकायत नहीं रह जायगी। वह खुद राजा हो जायगा, दूसरों की शिकायतें सुनेगा—वह खुद शिकायतें क्या करेगा! इसी प्रेम के भव्य सन्देश को भारत के उस विषम वातावरण में लाभप्रद समझकर, लोगों की भाषा में और लोगों के ढंग में, उनकी अपने घर की चीज़ बनाकर रखा गया। सचमुच सूफ़ियों की प्रेम-गाथाओं को पढ़कर और उनके रहस्य का मनन करके हृदय कलुषित भावों से ऊपर उठ जाता है, उसे संसार में एक उष्णता और एक नवीन स्फूर्ति दिखायी पड़ती है। वह भेद-भाव भूलने लगता है। सूफ़ियों के ग्रन्थों ने प्रेम की आग लगायी। उनका यही काम था। उन्होंने 'लोक' को प्रेम के योग्य बना दिया-वह प्रेम किससे, किसके लिए? इन बातों का उत्तर देना उन्होंने उचित न समझा-यदि 'प्रेम की पीर' पैदा हो जाय तो बस! जायसी ने इसी भाव से लिखा—

मुहमद कवि यह जोरि सुनावा। सुना सो पीर प्रेम कर पावा।

प्रेम-गाथाओं से सूफ़ियों ने हृदयों में प्रेम की पीर बैठा दी। प्रेम से हृदय में एक अभूत वेदना पैदा करदी। जन-समुदाय प्रेम में विकल हो गया-पर प्रेम किसका करें? प्रेम प्रेम के लिए, प्रेम निर्गुण के लिए! साधारण कोटि के मस्तिष्क के लिए ये सूक्ष्म तात्विक विश्वास अविश्वास से भी अधिक भारी थे। प्रेम में लगन की मात्रा है, प्रेम हृदय की वस्तु है। हृदय की लगन

निरूप, निरेख और निर्गुण में नहीं हो सकती। बिना गुण के वह शून्य सा, खाली-सा, और भूला-सा रहता है, इससे उसकी बेचैनी ही बढ़ सकती है, शान्ति का सन्देश नहीं मिल सकता। उसमें अवश्य ही आसक्ति की मात्रा होती है, और उचित दिशा में प्रधावित आसक्ति को बुरा नहीं कहा जा सकता। यह आसक्ति निराकार में, जायसी के 'निरगुन' में नहीं हो सकती। लक्ष्य का विस्तार ऐसा भी नहीं होना चाहिये कि अलक्ष्य हो जाय, और ऐसा संकुचित भी नहीं चाहिये कि निर्लक्ष्य हो जाय। बस इसी लक्ष्य की आवश्यकता थी।

प्रेम मार्गियों ने मार्ग बना दिया, अथवा मार्ग साफ़ कर दिया। वह मार्ग सिद्धान्त से 'निरगुन' प्रेम का था, अथवा किसी अनंत यात्री के लिये अनन्त-यात्रा का मार्ग था पर फलतः साहित्य में उस मार्ग को सलक्ष्य कर दिया गया। उस मार्ग के सामने 'सान्त' का रूप खड़ा कर दिया। यह सगुणोपासक भक्त कवियों ने किया।

पवित्र-प्रेम की दिव्य विकलता में जब श्रद्धा और गुण का समावेश हो जाता है तो वही भक्ति हो जाती है। भक्ति में विश्वास है, प्रेम की पराकाष्ठा है, सगुण धारणा है, श्रद्धा है, और अपनत्व का लोप है। प्रेम में आसक्ति है, विश्वास है, अपनत्व का लोप है-ये गुण प्रेम-मार्ग ने पैदा कर दिये। यही प्रेम-मार्ग आगे चलकर सगुण 'भक्ति' के रूप में परिणत हो गया। भक्ति-

मार्ग ने प्रेम-मार्ग की शून्यता को भर दिया। उसने लक्ष्य के लिये वह रूप रखा था जो एक साथ संकुचित भी था और विस्तृत तथा व्यापक भी; एक साथ अनन्त भी था और सांत भी, एक साथ व्यष्टि भी था और समष्टि भी; एक साथ व्यक्त भी था और अव्यक्त भी; एक साथ तार भी था और स्वर भी; एक साथ कण्ठ भी था और लय भी; एक साथ अग्नि भी था और गति भी; एक साथ सगुण भी था और निर्गुण भी—

यह समय बड़ी ही सुन्दर कलात्मक दार्शनिकता का था। सगुण भक्ति-मार्ग का धर्मचक्र! इसमें कवियों ने अपनी अमर-कला से अनन्त ब्रह्म को—उसके व्यापार-विक्षेप को सविकार साकार खड़ा कर दिया। कम से कम अब ब्रह्म धोखा नहीं दे सकता। उसका सुन्दर स्वरूप हम अनुभव कर सकते हैं।

'भक्तिमार्ग' के अवतीर्ण होने के मानसिक विकास का क्रम ऊपर बतलाया गया है। हिन्दी-साहित्य में प्रेम-मार्ग और ज्ञान-मार्ग के पश्चात् सगुण-भक्ति का आना अपने रूप में भी स्वाभाविक था-परन्तु इसमें वह स्वाभाविक मार्ग से नहीं आयी। उसके आने का इतिहास भिन्न है। वह उत्तर से नहीं दक्षिण से आरम्भ होता है।

---

## सहायक तथा पठनीय पुस्तकें

हिन्दी—चरदाई का पृथ्वीराज रासो ( ना० प्र० सभा, काशी ); जायसीः पद्मावत ( ना० प्र० सभा, काशी ); कबीर ग्रन्थावली ( रा० ब० श्यामसुन्दर दास ); हिन्दी साहित्य का इतिहास ( पं० रामचन्द्र शुक्ल ); हिन्दी का विवेचनात्मक इतिहास ( पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी ); भाषा और साहित्य ( बाबू श्यामसुन्दर दास ); केनोपनिषद; मुण्डकोपनिषद; कठोपनिषद; पं० रामनरेश त्रिपाठीः कविता-कौमुदी ( पूर्व हिन्दी भाग )

अंग्रेजी—Macdonald: India's Past; S. M. Gupta: Hindu Mysticism; Encyclopædia; Britanica; Studies in Islamic Mysticism; The Idea of Personality in Suphism; Tagore: One Hundred Poems of Kabir.

—:o-o:—

— २ —

# विष्णु का विकास

ऋग्वेद में हमें ऐसे ही देवता मिलते हैं जो या तो किसी प्रकृति के व्यापार-रूप के द्योतक हैं, अथवा किसी प्रकृति के अंग के नाम हैं। उस समय प्रकृति के व्यापार आर्यों को अत्यधिक उपयोगी, तथा जीवन-यात्रा को सुगम बनानेवाले प्रतीत हुए। उन्हीं की प्रधानता रही। वही व्यापार-मुख्य देव रहे। जो दीख पड़ता था, उसी की नाम-रूपात्मक दिव्यता उन्हें देवता कहने के लिए आकर्षित करने लगी। उनका मानसिक अथवा

कलात्मक विकास उस श्रेणी को नहीं पहुँचा था जिसमें वह नाम रूपात्मक सत्ता के परे केवल भावात्मक सत्ता के अस्तित्व की भी प्रतीति कर सके। ऋग्वेद को 'छन्द' कहा जाता था। वस्तुतः यह एक सुन्दर काव्य-ग्रन्थ है, जिसमें प्रकृति के विमोहक जादू के चमत्कार का भोला उद्गार ऋषियों ने अपनी अमरवाणी में प्रदर्शित किया है। इसीलिए उसमें भावात्मक देवों का वर्णन नहीं, किसी गहरी चिन्तवन की झलक नहीं; परन्तु उसमें इन सबसे अधिक कवि-सुलभ-मुग्धता की निसर्ग विज्ञप्ति अवश्य है।

कवि ने जो सामने देखा उसी की सुन्दरता ने उसे मोहित कर लिया। जिस प्रकृति के व्यापार ने उसका कुछ उपकार किया उसी की करोड़ों कंठों से प्रशंसा करने लगा। अत्यन्त बाधित होकर चिर कृतज्ञता का वचन देने लगा। उस समय उसकी दृष्टि में वही प्रत्यक्ष व्यापार सबसे महत्वशाली होजाता था, अति निकट की वस्तु होने से उसके उस समय के सारे हार्दिक उद्गार उसी के लिए निकल पड़ते थे। उस समय वह भूल जाता था कि दूसरों के साथ वह किसी प्रकार का अन्याय तो नहीं कर रहा। उस समय उसकी तुलनात्मक बुद्धि नहीं रहती थी। यही कारण है कि जहाँ अग्नि का वर्णन आया वहाँ अग्नि को ही सबसे बड़ा बता दिया गया और जहां इन्द्र की प्रशंसा की गयी वहां उसे सबसे बड़ा बता दिया गया। परन्तु ऐसी दशा अधिक काल तक नहीं रही। मैक्समूलर ने जिसे **एकानेक देव की पूजा** समझ

कर उसके लिए एक असामान्य शब्द गढ़ा उसका काल अधिक नहीं रहा ।

देवताओं के सम्बन्ध में विचार चलता ही रहा । क्या वे केवल प्रकृति-व्यापार हैं ? उनके अन्दर दिव्य-शक्ति है । उन्हें यह विश्वास होगया कि कोई भी कार्य देवों की प्रेरणा बिना नहीं होता । अन्न पकता है देव की कृपा से और अन्न उगता है देव की कृपा से । अतएव अन्न को भोजन-योग्य बनाने में देव अनिवार्य है । देव की कृपा से अन्धकार का नाश होता है, उसके अनुग्रह से दिखायी पड़ता है । ये आर्यों के प्रकृति के देव नाम-रूपात्मक थे, वस्तु थे. इनका आकार था, इनका रूप था, इनका रंग था । ये समय पर आर्यों की प्रार्थना सुनते और अपनी नियमित व्यापार-क्रिया से उन्हें जीवन की आशावादिता की ओर ले जाते थे । उनसे विचारों में गम्भीरता आयी । ज्यों-ज्यों उनको देवों की ये क्रियाएँ नित्य दीखने लगीं त्यों-त्यों वे साधारण से होने लगे और असाधारण नई बातें उनके सामने आने लगीं । वे आश्चर्य में पड़ गये । एवम् उस हिरण्यगर्भ की प्रतिक्षण की नवीन सृष्टि के रहस्य को वे अनुभव करने लगे । अब उनके मस्तिष्क तथ्य को ढूंढने में लगे, और विश्व-प्रकृति उन्हें रहस्य-मय दीख पड़ी । वे नाम-रूपात्मक से भावात्मक की ओर बढ़े । इस ओर सबसे पहला पग यही हुआ कि जहाँ कुछ ऐसे देव हैं जो हमारी दैहिक और भौतिक न्यूनताओं की पूर्ति से हमारी अभिलाषाओं को सफल करते हैं, वहाँ ऐसे भी देव होंगे जो दया

के भण्डार हों, जिनसे हमारे नैतिक जीवन की न्यूनताएँ दूर हो सकें और जो हमें सुमार्ग पर लाने वाले हों। ऐसे देव भावात्मक ही हो सकते थे।

फिर उन्होंने यह भी सोचा कि हमें जो धन-सम्पत्ति प्राप्त होती है वह भी किसी शक्ति की कृपा का ही फल है। वह शक्ति उनके प्रकृति-व्यापारों में नहीं थी, ऋग्वेद के प्रमुख देवों में नहीं थी। इन्द्र अन्न उपजाने में सहायक हो सकता है, सूर्य उसे पकाने में सहायक हो सकता है, परन्तु उगने और पकने से ही तो वह सम्पत्ति नहीं होगया और फिर एक अधिक सम्पत्तिवान, दूसरा उसी दशा में कम सम्पत्तिवान क्यों है? वर्षा एकसी हुई, सूर्य की धूप भी वैसी ही मिली, भूमि में भी विशेष अन्तर नहीं, फिर क्यों एक अधिक सम्पत्तिवान और दूसरा कम सम्पत्तिवान है? अवश्य ही यह किसी की कृपा अथवा अकृपा का फल है। यह प्रकृति-व्यापार नहीं, कोई भावात्मक सत्ता ही हो सकती है। अतः ऋग्वेद के प्रमुख देवों का नाम तो रहा परन्तु उनका मान उतना न रहा। नये देवताओं ने सिर उठाया। विष्णु जो ऋग्वेद में उज्ज्वल भविष्यशील साधारण देवता थे। उन्हें विकास क्षेत्र मिला।

एक विद्वान का कहना है कि—"ऋग्वेद के समय से धार्मिक और सामाजिक अवस्थाओं में बहुत अन्तर होगया। जैसे अथर्ववेद में आते हैं वैसे ही यजुर्वेद संहिताओं और ब्राह्मणों में अब भी ऋग्वेद के पुराने देवताओं के दर्शन होते हैं। किन्तु उनका महत्व पूरी तरह मन्द होगया

है और केवल यज्ञ से ही उन्हें अपनी शक्ति मिलती है। प्रत्युत जो ऋग्वेद में केवल गौण स्थान रखते हैं वे इन कर्मकाण्डी संहिताओं और ब्राह्मणों में कहीं अधिक प्राधान्य पालेते हैं, जैसे विष्णु, और विशेषतः रुद्र अथवा 'शिव'।"

यर्वेजुद के समय में आर्यों का धर्म पूर्णतः विकसित होकर निश्चित होचुका होगा। वैदिक धर्म कर्मकाण्ड सम्बन्धी है। वह यज्ञ और योग को महत्व देता है। अतः यजुर्वेद के अन्दर यज्ञ की प्रक्रियाओं और मन्त्रों का समावेश हुआ। यज्ञ करने कराने वाले मान्य समझे गये। यज्ञ-प्रतिष्ठा बहुत बढ़गयी। यज्ञ ही सर्व शक्तिमान माना गया। यज्ञ विष्णु माना गया।

विष्णु के इस यज्ञ-स्वरूप की ओर ऋग्वेद में भो संकेत है परन्तु वह बहुत ही हलका। वहाँ 'पूर्वम् ऋतस्य गर्भम्' कहा गया है। यज्ञ और विष्णु क्यों मिल गये इस सम्बन्ध में एक अनुमान रखा जासकता है।

ऋग्वेद में विष्णु में सूर्य गुणों की स्थापना मिलती है। सूर्य जैसी अद्भुत शक्ति को ऋषियों ने अनेकों दृष्टियों से देखा। उसके विभिन्न व्यापारों को उसकी भिन्न-भिन्न विशेषताओं के रूप में पृथक-पृथक देवता स्वीकार कर लिया गया। जो पहले विशेषण मात्र होंगे वे अब उसके नाम होगये और अन्ततः उनकी भी गणना देवों में होने लगी। 'सवितर,' 'विवस्वत' आदि मूलतः विशेषण ही हैं। इसी प्रकार 'विष्णु' भी सूर्य का ही एक नाम

था। 'विष्णु' के सम्बन्ध में ऋग्वेद में उसके तीन पदों की बात कई स्थलों पर मिलती है। विष्णु के तीन पदों में सारे संसार का तथा बलि का नापा जाना हम पौराणिक गाथा की भाँति सुनते आये हैं। इसका बीज सम्भवतः वेद के यही तीन रहस्य-मय पग हैं। यहां उनकी व्याख्या 'भूः', 'भुवः' 'स्वः' के द्वारा की जाती है। उसका एक पद पृथ्वी पर, दूसरा अन्तरिक्ष अथवा वायु में और तीसरा आकाश में। यह तीसरा पद पूर्णतः रहस्य-मय है उसे परम पद भी कहा गया है। इस व्याख्या से भी विष्णु सूर्य का ही नाम प्रतीत होता है।

विष्णु पूषन, मित्र आदि की तरह सूर्य का पर्यायवाची है। अग्नि और सूर्य में भी कोई अन्तर नहीं। अग्नि भूलोक का देव है, सूर्य 'स्व' लोक का। कार्य दोनों का प्रायः समान ही है। अग्नि मनुष्यों के हाथ से हवि ग्रहण करके यज्ञ को सफल करता है, उसे देवों के पास पहुँचाता है, वह देवों का दूत है।

'ज्योतिः सूर्यो सूर्यो ज्योतिः स्वाहा'
'ज्योतिर्अग्निः अग्निर्ज्योतिः स्वाहा'

इन मन्त्रों में सूर्य और अग्नि का एक मान और एक स्थान है। जो अग्नि है वही सूर्य है। अग्नि यज्ञ है, सूर्य यज्ञ है। अग्नि सब देवों का दूत है तो उसे सर्वशक्तिमान नहीं कहा जा सकता। सूर्य भी भौतिक नाम-रूपवाला है। पूषन, मित्र, सवितर आदि भी अपना अपना कार्य करते हैं, उनका क्षेत्र

बँधा हुआ है। ऐसा कोई भी नहीं जो भूः, भुवः और स्वः को-पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश को अपनी तीन डगों से नाप लेता हो; ऐसा कोई नहीं जो अन्य देवों ( इन्द्रादि ) की सहायता करने में यश प्राप्त कर चुका हो। सूर्य के अन्य पर्यायवाची शब्दों से विष्णु में यह आकर्षक अन्तर होने के कारण इस ओर अधिक ध्यान आकर्पित हुआ। अतः विष्णु 'यज्ञ' कहा जाने लगा। और वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। उसने ऋग्वेद् के अन्य सभी देवताओं का मान-मर्दन कर दिया।

यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें खण्ड के आरम्भ में एक कथा लिखी हुई है। देवताओं में झगड़ा उठ खड़ा हुआ, उसमें विष्णु विजयी रहे, और तब से वे सभी देवताओं में श्रेष्ठ कहे जाने लगे। उनका नाम ही श्रेष्ठ पड़ गया। यह कथा भी यही प्रकट करती है कि तब ऋग्वेद् के सभी देवताओं में विष्णु की प्रतिष्ठा अत्यधिक बढ़ गयी।

वस्तुतः विष्णु का उदय, विष्णु का ही नहीं शिव का उदय भी यजुर्वेद से आरम्भ हुआ। फ़र्कुहर साहब ने लिखा है कि—

जहाँ तक हमें प्रमाण मिलते हैं यही प्रतीत होता है कि विष्णु का प्रथम उत्थान पुरोहितों द्वारा उसके 'यज्ञ' माने जाने के कारण हुआ। इस अर्थ में यजुर्वेद के सैकड़ों चरणों में उसका नाम आता है। *

---

* So far as our evidence goes, it would seem as if Vishnu owed his first elevation to being indentified with the sacrifice by the priests. In that sense his name occurs in hundreds of passages in Yajurveda.

यजुर्वेद में विष्णु की प्रधानता रही। विष्णु और यज्ञ में कोई अन्तर नहीं रहा। यज्ञ इस समय सर्वपूजित था अतः विष्णु भी उसी स्थान को पागये।

ऋग्वेद में जो विष्णु बहुत पिछड़े हुए थे, वे यजुर्वेद में चमक उठे। वहां विष्णु 'इन्द्र के साथी' थे, उनका पृथक् कुछ महत्व न था। उन्हीं विष्णु को यहाँ पृथक् श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो गया। स्थिति में परिवर्तन होगया। जो यज्ञ पहले कामना सफल करने और देवताओं को प्रसन्न करने का साधन था वह अब स्वतः साध्य होगया। वह स्वयम् देवता होगया। यज्ञ ही विष्णु है, ऐसा कई स्थानों पर कहा गया। विष्णु अब व्यावहारिक कर्म-काण्ड से ऊपर उठने लगे, अब उनके सम्बन्ध में परिभाषा ही नहीं होती। उनका रूप भावात्मक हो चला। वह कर्म-क्षेत्र से उठकर ज्ञान-क्षेत्र में पहुँचने लगे। इस काल के बाद का साहित्य वैदिक कर्म तथा यज्ञ-याग प्रधान धर्म के प्रति एक क्रान्ति का अध्याय आरम्भ करता है। ऋषियों को प्रतीत होने लगा था कि यज्ञ-याग करने मात्र से काम नहीं चल सकता। उस यज्ञ के स्वरूप को जानना आवश्यक है। वह यज्ञ मानसिक भी हो सकता है। बृहदारण्यक के आरम्भ में ही अश्वमेव यज्ञ की मानसिक-उपासना के रूप में व्याख्या की गयी है। आरण्यक नगर से दूर एकान्त अरण्यों में रहने वाले ऋषियों के निमित्तप्रतीत होते हैं। वहाँ वे आर्य-धर्म के कर्मों को, यज्ञ-याग आदि को करने में

किस प्रकार समर्थ हो सकते थे ? वहाँ सुविधा और सामग्री कहाँ थीं ? अतः वे मानसिक-उपासना करने लगे।

वे यज्ञ के, आवश्यक प्रतीत होने वाले उपचारों से भी घबड़ा गये होंगे। यज्ञ की बलि ने भी उन्हें विचलित कर दिया होगा। ऋग्वेद में शुनःशेफ की कथा आयी है।

हरिश्चन्द्र ने वरुण से प्रार्थना की, 'मुझे पुत्र दो मैं उसे आपको बलि दे दूंगा।' पुत्र हुआ। वरुण ने बलि माँगा। हरिश्चन्द्र टालता रहा। बड़ा होजाने पर रोहित (हरिश्चन्द्र का पुत्र) जंगल में भाग गया। वरुण के शाप से हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग होगया। इन्द्र के कहने से रोहित बन में ही घूमता रहा। अन्ततः वह ऋषि अजीगर्त्त के आश्रम में पहुँचा। ऋषि का कुटुम्ब भूखों मर रहा था। उसके तीन पुत्र थे शुनःतुच्छ, शुनःशेफ, शुनोलाङ्गूल। रोहित ने सौ गायें देने का वचन दिया और बदले में ऋषि के एक पुत्र को इसलिए चाहा कि वह बलि चढ़कर रोहित्त को मुक्त करा दे। बड़े पर पिता का प्यार था, छोटे पर माता का अतः शुनःशेफ रोहित के साथ गया। बलि की तैयारी हुई। ऋषि अजीगर्त्त ही गायों के प्रलोभन में अपने पुत्र को बलि चढ़ाने को तय्यार होगया। शुनःशेफ ने सोचा कि 'क्या मैं मनुष्य नहीं हूँ फिर मुझे क्यों बलि चढ़ाया जाता है ?' उसने सभी वैदिक देवताओं की प्रार्थना की। उषा की प्रार्थना से हरिश्चन्द्र का रोग दूर होगया, शुनःशेफ मुक्त होगया। इस

प्राचीन कथा के रूप में वैदिक कालीन बलि की भयंकरता के प्रति क्रान्ति दिखायी पड़ती है । भारतीयों की प्रवृत्ति प्रत्येक प्राचीन शक्ति और कृत्य को अत्यन्त सन्माननीय मानने की ओर रही है। वे वैदिक कर्मों को त्याग नहीं सकते थे । उन्होंने उसका रूप बदल दिया। उसे मानसिक-उपासना का रूप दे दिया। इस काल में वैदिक कर्म को मानसिक और भावात्मक रूप मिलने के साथ उनके तथ्य पर विचार करने की ओर झुकाव देखा जाता है।

इसी ब्राह्मण और आरण्यक के समय में 'ब्रह्म' का अधिकार जानने और बताने की चेष्टा की गयी। ऋग्वेद में ब्रह्म छन्द के लिए आया। अब ब्राह्मणों के प्राधान्य से ब्रह्म यज्ञ तथा देवताओं से भी बढ़कर होगया। विण्टरनिट्ज़ ने इसी को लक्ष्य करके लिखा है।

इस प्रकार निष्कर्ष यही निकलता है कि ब्रह्म अब स्वर्गीय देवताओं का पार्श्ववर्ती 'मानवी देवता' नहीं रहा। वह देवताओं से ऊंचा उठ गया है। शतपथ ब्राह्मण में ही यह तो कह दिया गया मिलता है कि " ऋषि से अवरोहित ब्रह्म ही वस्तुतः सर्व देवता है" अर्थात् उसी में सब देवता समाहित हैं।*

* Thus at last, the conclusion is arrived at, that the Brahman is no longer a 'human god' by the side of the heavenly gods but that he raises himself above the gods. Already in the Satapatha Brahman it is said "The Brahman descended from a Risi indeed is all deities" i. e. in him all deities are incorporated.

ब्रह्म ने इस प्रकार प्रधानता पा ली। यह ब्रह्म इसी यज्ञ से सम्बन्ध रखने के कारण सृष्टि का कर्त्ता हुआ। इसका रूप रहस्यमय होता गया। इस प्रकार कर्म-मार्ग से 'इन्द्र' 'अग्नि' और 'वरुण' की उपासना को छोड़कर ऋषि लोग जंगल में बैठकर 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में विचार करने लगे। कर्म-मार्ग की क्रांति ज्ञान-मार्ग में हो गयी। इस प्रत्यावर्तन ने ब्राह्मणों के युग का विकास उपनिषदों के रूप में कर दिया।

उपनिषदों में ऋषि-कवियों ने इस रहस्य को बड़े मनोरंजक ढंग से रखने की चेष्टा की। वे रहस्य को—उस ब्रह्म को अलौकिक बतलाने लगे। जो ब्रह्म को जानता है वह सबको जानता है, उसकी प्राप्ति उसे मुक्त कर देगी। इस युग में वैदिक कर्म-मार्ग तथा बलि और यज्ञ-याग की कट्टरता प्रायः शून्यवत् ही रह गयी थी। इस प्रकार धीरे-धीरे वैदिक कट्टरता में परिवर्तन होता चला। इन्हीं उपनिषदों में–अथर्ववेदीय उपनिषदों में हमें साम्प्रदायिक देवताओं के रूप दीख पड़ते हैं।

अथर्ववेद से हमें जिस ज्ञान-विज्ञान का पता मिलता है उस पर बहुत कुछ लौकिकता का प्रभाव है। कुछ समुदाय तो आज भी अथर्ववेद को वेद मानने के लिये तैयार नहीं। निस्संदेह अथर्ववेद बहुत काल बाद वेदों में सम्मिलित किया गया। उसका सम्पादन भी बहुत बाद में हुआ। इस लौकिक प्रभाव से युक्त वैदिक उपनिषदों में यदि लौकिकता का प्रवेश हो तो आश्चर्य

की बात नहीं। अथर्ववेद की उपनिषदों को विद्वानों ने तीन मुख्य भागों में विभक्त किया है। वैबर लिखता है—

अथर्वोपनिषदें, अधिकांश पद्यवद्ध होने के कारण भी बाह्यतः पहचानी जा सकती हैं, तीन स्पष्ट विभागों में विभक्त की जा सकती हैं...... पहली कोटि की तो सीधे आत्मा अथवा परमात्मा के तत्वानुसन्धान में लगी हुई हैं। दूसरी में योग के विषय का निदर्शन है ..... और अन्ततः तीसरी कोटि में आत्मा के स्थान पर शिव और विष्णु इन प्रधान दो देवताओं के उन विविध रूपों में से जिनमें आगे उनकी पूजा होने लगी थी किसी एक रूप को रख दिया गया है *।

उपनिषदों में—यजुर्वेद, सामवेद, ऋग्वेद तथा अथर्ववेद की प्रथम और द्वितीय कोटि के उपनिषदों में 'ब्रह्म' की विवेचना की गयी। वह विचित्र और सर्व शक्तिमान समझा गया है। सामवेद की केनोपनिषद् में ब्रह्म की यह विचित्रता और सर्व-शक्तिमत्ता एक मनोहर कहानी के रूप में समझायी गयी है।

* The Atharvopanishads, which are also distinguished externally by the fact that they mostly composed in verse, may themselves be divided into three distinct classes...... Those of the first class continue directly to investigate the nature of the Atma or the superme spirit; those of the second deal with the subject of absorption ( yoga ) in meditation.....and lastly those of the third class substitute for Atma some one of the forms under which Shiva and Vishnu the two principal gods, were in the course of time worshipped.

एक देवासुर-संग्राम में 'ब्रह्म' की कृपा से देवों को विजय मिली। सभी देव इस विजय के अभिमान में फूलकर अपनी प्रशंसा करने लगे। वे यह न जान सके कि वास्तव में इस विजय का कारण क्या है ? उस ब्रह्म ने ऐसे अभिमान को दूर करने का निश्चय किया, वह उनके मध्य में एक विचित्र परन्तु पूजनीय के रूप में उत्पन्न हुआ।

"ते अग्निमब्रुवन जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिती तथेति॥१६।३॥ केन"

अग्नि को उस पूजनीय का परिचय प्राप्त करने का भार दिया गया। 'अग्नि' उस ब्रह्म के समक्ष गया। ब्रह्म ने अग्नि की शक्ति के सम्बन्ध में जानने की उत्सुकता प्रकट की। अग्नि ने बड़े गर्व-पूर्वक अपनी शक्ति का वर्णन किया। एक हलका-सा तृण ब्रह्म ने अग्नि की परीक्षा के निमित्त उसके सामने रखा। अग्नि अनेक प्रयत्न करने पर भी उसे न जला सका। वह उस पूजनीय व्यक्ति का पता न पा सका। इसी प्रकार वायु, इन्द्र आदि सभी देवता हार गये।

इस कथा से यह ऐतिहासिक तथ्य निकल सकता है कि उस समय तक अग्नि, वायु, इन्द्र आदि देवताओं की प्रतिष्ठा थी; कोई एक स्वयम-भू सर्वात्मा सत्ता भी है, इसका विशेष ज्ञान नहीं था। उस ब्रह्म ने अपनी शक्ति का परिचय दिया। अग्नि उस ब्रह्मत्व से शून्य रहकर तुच्छ है, वायु भी निस्सार है और इन्द्र भी प्रतिष्ठाहीन है। उपनिषदों के ऋषि-कवियों ने उसी

विष्णु—सर्व शक्तिमान को खोजा और उसका महत्व समझाया।

यज्ञ में ब्रह्म की प्रधानता हुई। उस ब्रह्म का मानसिक रूप स्थिर हुआ। वह यज्ञ की प्रधानता से सृष्टि में परम-तत्व समझा जाने लगा। उन्हें निश्चय हो गया कि "ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बरव"—ब्रह्म देवताओं में सर्व प्रथम हुआ (अथर्ववेदीय मुण्डक १)। वही

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्द्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥ ११। ४२

आगे-पीछे, दक्षिण-उत्तर, ऊपर-नीचे—यहाँ तक कि सारा विश्व ही ब्रह्म है।

यहाँ तक हमने भारतीय धर्म दर्शन में देवताओं के विकास का रूप देखा। विष्णु एक साधारण देव से यजुर्वेद का सहारा पाकर सर्व-देव और श्रेष्ठ की कोटि में पहुँचे। ब्राह्मणों ने उसी यजुर्वेद से कर्म-काण्ड में सर्व-पूज्य प्रतिष्ठा पाकर यज्ञ को सर्व-लक्ष्य बनाकर, उन्हें सर्व-शक्तिमान की श्रेणी में पहुँचाया, फिर ब्रह्मत्व के द्वारा सर्व श्रेष्ठ प्रतिष्ठा के रूप में 'ब्रह्म' का सब से ऊँचा स्थान कर दिया गया। 'ब्रह्म' नामी एक सर्वव्यापी सत्ता मानी जाने लगी जो सूर्य एवम् समस्त संसार में भी है। वह परम-आत्मा हो गया।

अभी तक ब्रह्म देव था, वह एक रहस्य था, उसका कोई

आकार विशेष न था। आकार की प्राचीरों से मुक्त, रहस्य की स्वच्छन्द वायु को भोगता हुआ यह ब्रह्म विश्व-देव के रूप में ग्रहण किया गया। यह ब्रह्म विश्व-आत्मा के रूप में दूसरी कोटि की उपनिषदों का विषय बना। साम्प्रदायिक उपनिषद् तीसरी श्रेणी में रखे गये हैं। उन में आत्मा के स्थान पर विष्णु अथवा शिव के किसी रूप को रख दिया गया है। इनमें से कुछ पूर्ववर्ती योग सिद्धांत के आधार पर हैं। बाद के उपनिषदों में उनके देवताओं के निजी गुणों का अधिकाधिक प्रकाशन किया गया है। इस श्रेणी के उपनिषदों की एक भारी विशेषता यह है कि प्रायः सभी के अन्त में पाठ करने वालों और मनन करने वालों के लिए बड़े बड़े वरदानों की आशा दिलायी गयी है, और विशेष आराध्य के पवित्र शब्दों और पूजनीय सिद्धांतों का भी कहीं-कहीं अन्त में उल्लेख है। अब विष्णु इन उपनिषदों में कैसे विकसित हुए ?

विष्णु सम्प्रदाय के उपनिषदों में सबसे पुराना रूप, विष्णु की पूजा का नारायण है। यह नाम सब से पहले शतपथ ब्राह्मण के दूसरे भाग में मिलता है। यहाँ इस शब्द का सम्बन्ध विष्णु से नहीं। यहां तो यह जैसे मनु और विष्णु-पुराण के आरम्भ में आता है ब्रह्म (पुल्लिंग) का द्योतक है। तैत्तरीय आरण्यक की नारायणीयोपनिषद् में भी यही बात है। अथर्वण संस्करण की बृहन्नारायणोपनिषद में भी यही लिखा है। इसमें इतना तब भी है कि उसे (नारायण को) 'हरि' नाम दिया गया है और एक स्थान पर तो वासुदेव और विष्णु से भी सीधा उसका

सम्बन्ध कर दिया गया है। महा-उपनिषद में ही सब से पहले नारायण स्पष्ट रूप से विष्णु का प्रतिनिधि गोचर होता है। महा उपनिषद एक गद्य रचना है। इसके प्रथम भाग में नारायण से *विश्व का प्रादुर्भाव बतलाया गया है*, और दूसरे *भाग* में *नारा*-यणोपनिषद के मुख्य स्थलों का अन्वय है। इसमें नारायण स्पष्टतः विष्णु के प्रतिनिधि की भांति आया है। क्योंकि शूलपाणि ( शिव ) और ब्रह्म उससे उद्भूत होते हैं और विष्णु का कहीं उल्लेख नहीं। नारायणोपनिपद में यह बात नहीं। वहाँ महाभारत के १२ वें सर्ग के नारायण नामक अध्याय की तरह उससे विष्णु भी प्रादुर्भूत होते हैं। यहाँ जा मंत्र सिखलाया गया है वह है 'ओ३म् नमोनारायण'। इस उपनिषद का एक दूसरा पाठ भी उपलब्ध है, जा अथर्व-शिराओं का एक भाग है। उस में देवकी पुत्र मधुसूदन का विशेषतः 'ब्रह्मण्य' ( पवित्र ) कहा गया है। यह बात आत्म-प्रबोध उपनिषद में भी है, जिस में नारायण को परमेश्वर कह कर अभिहित किया गया है। गर्भोप-निषद में भी नारायण को इसी गुण से युक्त बतलाया गया है।

इसके बाद विष्णु का दूसरा रूप नृसिंह है। अब तक जितना अनुसन्धान हुआ है उससे यह विदित होता है कि विष्णु को नृसिंह नाम से तथा वज्रनख और तीक्ष्ण दंष्ट्र उपाधियों सहित पहले-पहल तैत्तरीय आरण्यक १०-१-८ ( नारायणी-योपनिषद् ) में लिखा गया है। जिस उपनिषद् में इनकी सब से पहले उपासना की गयी वह 'नृसिंहतापनी' है। यह अपेक्षाकृत

अधिक बड़ी है। इसके दो भाग हैं। दोनों में ब्रह्मा; विष्णु, महेश इस त्रयी का बराबर उल्लेख हुआ है।

यह सम्भवतः ईसा की चौथी शताब्दी का है क्योंकि उसी समय भारत के पश्चिमी घाट पर नृसिंह की पूजा प्रचलित थी, जिसका अब कहीं चिन्ह भी नहीं मिलता।

रामतापनी उपनिषद् में राम की परम ब्रह्म की भाँति उपासना है। यह नृसिंहतापनी उपनिषद् से अधिक मिलता-जुलता प्रतीत होता है। दूसरे भाग में तो यह मेल और भी अधिक है। इसमें याज्ञवाल्क्य राम के दिव्य ऐश्वर्य के व्याख्याता की तरह आते हैं। साम्प्रदायिकता की पूरी छाप वहां मिलती है जहाँ पर स्वतः शिव ( शंकर ) राम से यह प्रार्थना करते हैं कि वे उन व्यक्तियों को जो मणिकर्णिका या गंगा में मरें मुक्त करदें। यह उपनिषद रामानुज-शाखा का है। इसकी तिथि ग्यारहवीं सदी हो सकती है।

विष्णु को विष्णु, पुरुषोत्तम, वासुदेव नाम से परमात्मा की भाँति कई उपनिषदों में स्मरण किया गया है; कुछ में कृष्ण देवकी पुत्र की तरह आते हैं (आत्मप्रबोध और नारायण), परंतु इनमें वे परमात्मा की तरह नहीं आते। गोपालतापनी में उन्हें पहले-पहल दिव्य कोटि में रखा गया है। इसमें पहले मथुरा और ब्रज की गोपियों का वर्णन है। फिर मथुरा 'ब्रह्मपुर' बतलाया गया है। निस्सन्देह यह बहुत आधुनिक है, क्योंकि इसमें और

उपनिषदों की सी कोई बात नहीं। विषय और भाषा की दृष्टि से भी प्राचीनता नहीं झलकती। गोपीचन्दन उपनिषद् का भी सम्भवतः यही स्थान है।

इस लम्बे अवतरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि साम्प्रदायिक छाप से मुद्रित उपनिषदें बहुत पुरानी नहीं है। उनमें नूतन युग की बहुत सी बातें लिखी हुई हैं। कम से कम 'तापनीयोपनिषदें' तो अवश्य ही नयी हैं। निस्सन्देह बौद्धों से पूर्व विष्णु पूजा का आरम्भ हुआ परन्तु उसकी अवतार रूप में प्रतिष्ठा बहुत बाद की बात है।

उस 'विष्णु' ने ऋग्वेद कालीन 'सूर्य' के पर्यायत्व से मुक्ति पायी, यज्ञ का अधिष्ठाता बना, उसे ब्रह्म की कोटि तक पहुँचा दिया गया। उसी को अब धीरे-धीरे विभिन्न क्षेत्रों में साम्प्रदायिक छाप से मुद्रित करने के लिए नारायण, नृसिंह, राम और फिर कृष्ण के नाम दिये जाने लगे। कितने रंगों की रञ्जित भूमिका के साथ 'विष्णु' ने लौकिक साहित्य को इन्द्र-धनुषी बनाया।

इतिहास का सिंहावलोकन इसे ठीक दिखा देता है कि जिस पथ से भारतीय सभ्यता की धारा विकास की ओर जा रही थी उसमें अभी भक्ति-क्षेत्र नहीं आ पाया था। कर्म को वेदों ने उठाया, ज्ञानवाद को उपनिषदों ने चोटी पर पहुँचा दिया। कर्म के लिए आडम्बर की आवश्यकता थी, वह समाज के लिए, साधारण जनता के लिए एक झँझट का काम था। 'ज्ञान' कुछ

विरक्तों और विद्वानों की जङ्गली कुटियों तथा पर्णशालाओं के शान्तवातावरण की मननीय सम्पत्ति रह गया। सब की उस तक पहुँच कहाँ थी ? लोक-समुदाय उसे उचित आदर देना चाहता था। वह उनका विरोधी नहीं था। जो कुछ महापुरुषों के दिव्य-मुख से निकलता उसे लोक ग्रहण कर लेता था और अपने रूप में ढाल कर उसे काम में लाता था। बहुत काल से यही प्रथा थी।

समाज के पास कवि-हृदय था। जिस कवि-हृदय ने आदि वैदिक काल में अपने उद्दाम हृद्धास की उफनती हुई भावनाओं से प्रकृति के व्यापारों के रहस्य को 'रूप' दिया, उनसे अपना निकटत्व स्थिर किया एवम् उनमें सचेतन मनुष्य की क्रियाओं की सृष्टि करदी वही कवि-हृदय इस समय 'ब्रह्म' के रहस्य को अपने समय के अनुसार बनाने में सचेत था। ऐसे ही युग में 'महाभारत' और 'रामायण' का जन्म हुआ।

'मा निषाद प्रतिष्ठाम्...............' इन शब्दों में अनायास ही लौकिक काव्य-धारा महर्षि बाल्मीकि के मुख से प्रवाहित हो उठी। तात्पर्य, वैदिक और औपनिषदिक ढाँचे पर लौकिक-रंग चढ़ गया। उस पर 'लोक' की छाप गहरी बैठ गयी। वह विष्णु जो रहस्यमय ब्रह्म था, अनादि, अनन्त, अजर, अमर आत्मा था राम हो गया, नारायण हो गया, नृसिंह हो गया और वही कृष्ण हो गया।

'महाभारत' और 'रामायण' इन दोनों काव्य-ग्रन्थों में देवताओं का एक वह रूप मिलता है जो साम्प्रदायिक-छूत से शून्य है और दूसरा वह जो विशेषतः किसी देव विशेष की भक्ति का प्रचार करने के लिए लिखा गया है। महाभारत विष्णु की उपासना के प्रचार के ही लिए लिखा गया प्रतीत होता है। इस प्रकार 'महाकाव्य' काल में 'विष्णु' का रूप यह हो गया—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अविगत, अलख, अनादि, अनूपा।
सकल-विकार-रहित गति भेदा।
कहि नित-नेति निरूपहिं वेदा।

भगति-भूमि-भूसुर-सुरभि, सुर-हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तन,सुनत मिटहिं जगजाल॥

---

## सहायक तथा पठनीय पुस्तकें

हिन्दी—ऋग्वेद ( स्वाध्याय मण्डल, अजमेर ); दयानंद: यजुर्वेद भाष्य ( वैदिक यन्त्रालय, अजमेर ); शतपथ ब्राह्मण; वृहदारण्यक; केनोपनिषद्; वाल्मीकिः रामायण; तुलसीः रामचरित मानस; वैष्णव धर्म वा संप्रदाय का क्रमिक विकास ( हिन्दुस्तानी; जनवरी '३७ )

अंगरेज़ी—S. Radha Krishnan: Indian Philosophy Pt. I., H. Brunnhofer: 'Uber den Geist der indischen Lyrick: Max Muller: Sanskrit Literature; Furquhar: An Outline of the Religious Literature of Hindus.

---

— ३ —

# सूरदास के कृष्ण

सूरदासजी वल्लभसम्प्रदाय के कवि हैं। वल्लभसम्प्रदाय के आदि आचार्य श्रीवल्लभ और विट्ठल ने, जो अष्टछाप बनायी, सूरदासजी उसमें प्रधान हैं। अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण-भक्ति का प्रचार करने में कितनी महान् सहायता पहुँचायी, इसके कहने अथवा प्रमाणित करने की आज आवश्यकता नहीं। निश्चय ही सूरदासजी के 'कृष्ण' केवल राधा अथवा गोपी मात्र के प्रियतम, उनके शृंगारी-ढाँचे की आत्मा नहीं, न रीति-कालीन

कवियों के कृष्ण को तरह प्रेमी मात्र किसी नायिका के प्रियतम ही हैं। वे तो एक विशेष विश्वास और सम्प्रदाय की वस्तु हैं। वल्लभसम्प्रदाय की दृष्टि में कृष्ण ब्रह्म हैं। वह विष्णु, ब्रह्मा और शिव सब के परे हैं। फर्कुहर साहब ने अपने ग्रन्थ An Outline of The Religious Literature of Hindus में लिखा है—"सत्-चित आनन्द जो ब्रह्म है, कृष्ण उसी की एकमात्र सत्ता है। अग्नि से चिनगारियों की तरह कृष्ण से यह पदार्थ संसार, आत्माएँ और अन्तरयामिन् अथवा अन्तः-निवसित देव प्रोद्भासित हैं। आत्माओं में, जो परिमाणु-रूप और ब्रह्म के तुल्य हैं, तीनों गुणों की सम-अवस्था में विकार हो जाने के कारण आनन्द-गुण विलुप्त हो जाता है। अतः उनमें केवल सत-चित्त गुण ही मिलते हैं। मुक्त-आत्माएँ कृष्ण के स्वर्ग को जाती हैं—जो कि विष्णु, शिव और ब्रह्म के स्वर्ग से कहीं ऊपर है और वहां कृष्ण के प्रसाद से वे दिव्य विभूतिमय शुद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं।"

इसकी पुष्टि आर० जी० भाण्डारकर के लेख से भी होती है। वे कहते हैं—" श्रीकृष्ण परम ब्रह्म हैं........उसका शरीर सत्-चित्-आनन्दमय है। वह पुरुषोत्तम कहलाता है........अतः कृष्ण परमानन्द है। उसकी इच्छा से उसका सत्व अंश आनन्द-अंश को दबा देता है और अक्षर अथवा अपरिवर्त्तनशील होकर वह सब कारणों का कारण होता है और जगत् की सृष्टि करता है। यह अक्षर ब्रह्म दो प्रकार का है:- ( १ ) वह जिसे भक्त पुरुषोत्तम का स्थान मानते हैं; जिसमें व्यापी-वैकुण्ठ आदि के लक्षण होते हैं। ( २ ) ज्ञानियों को यह सत, चित और आनन्द, काल और देश में असीम, स्वोद्भूत और सब गुणों से शून्य दिखलायी देता है। अतः जिस रूप में वह ज्ञानियों को दिखलायी

देता है, उसमें अस्तित्व-गुण छिप जाते हैं अथवा उक्त अलक्षित शक्ति के द्वारा वे अदृष्टिशील कर दिये जाते हैं। अतः उनका अभाव नहीं माना जा सकता। जब ब्रह्म को सब गुणों से रहित बतलाया जाता है तब उसका ठीक यही तात्पर्य होता है। अतः परमात्मा के तीन रूप हैं, अक्षर ब्रह्म के दो।

पुरुषोत्तम परमात्मा का एक रूप है। वही सब का शासनकर्त्ता है, इसके लिए उसका वह रूप जो सूर्य्य, देवों, पृथ्वी आदि में रहता है, अन्तर्यामी कहलाता है। यह अन्तर्यामी ही प्रसिद्ध रूप से अवतरित होता है। कृष्ण का दिव्य सत्व-गुण विष्णु हो जाता है। इस रूप में वह सब का पोषक है। इस प्रकार राजस् और तमस् गुण ब्रह्म तथा शिव होकर सृष्टि और संहार का कार्य करते हैं।"

इन अवस्थाओं को देखने से इसमें किञ्चित भी सन्देह नहीं रहता कि वल्लभसम्प्रदाय में कृष्ण को विष्णु से-त्रिदेवों से ऊपर माना गया है। अब देखना यह है कि सूरदासजी ने वल्लभसम्प्रदाय की अवधानता में काव्य रचना करते हुए कृष्ण को किस रूप में स्वीकार किया है।

सूरसागर में हमें स्थान-स्थान पर श्रीकृष्ण के लिए 'हरि' शब्द का प्रयोग मिलता है। केवल विनय में ही नहीं, रामचन्द्र जी के सम्बन्ध में तथा यशोदा के घर की कृष्ण-लीलाओं में जहाँ-तहाँ 'हरि' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त कमलानायक, माधव, मुरारि, केशव, राजीवनैन, गोविन्द, त्रिभुवनपति आदि शब्दों का प्रयोग भी है। ये सभी शब्द विष्णु के

लिए प्रयोग में आते हैं। दीनानाथ, करुणानिधि आदि साधारण विशेषता-द्योतक शब्दों का भी प्रयोग है।

विनय का यह पद 'हरि' नाम से ही प्रारम्भ हुआ है—

'चरण कमल वन्दौं हरि राई'

'माधव' का प्रयोग निम्न-लिखित प्रसङ्ग में हुआ है:—

'माधव' जू नैंक हटकौ गाइ'-वाणी की वाचालता के सम्बन्ध में माधव से प्रार्थना की गयी है।

'माधव जू जो जन ते बिगरै'

× × × ×

'कै हमहीं कै तुमहीं माधव अपनु भरोसे लरिहौं'

× × × ×

'मनारे माधव सौं करि प्रीति' आदि—

'मुरारी' का प्रयोग देखिए—

'अब कैं नाथ मोहिं उधारि

मग नहीं भव अम्बुनिधि में कृपासिंधु मुरारि।'

× × × ×

'तुम सर्वज्ञ सबै विधि समरथ असरन सरन मुरारि॥'

× × × ×

'रे रे अन्ध बीसहू लोचन, परतिय हरन विकारी।
सूने भवन गवन तैं कीन्हौं, सेस-रेख नहिं टारी॥
अजहूं कह्यौ सुनै जो मेरौ आये निकट मुरारी॥'

अन्तिम उद्धरण में 'मुरारी' श्रीरामचन्द्रजी के लिए आया है। 'राम युद्ध' का वर्णन करते हुए सूरदासजी लिखते हैं—

सुरपुर तें आयो रथ सजि के रघुपति भये सवार।
कांपी भूमि कहा अब ह्वै है, सुमिरत नाम मुरारि॥

वामन-अवतार के सम्बन्ध में लिखते हैं—

एतौ विप्र न होवे राजा, आये छलन मुरारी।
कहि धौं शुक्र कहा धौं कीजै, आपुन भये भिखारी॥

यहाँ वही 'मुरारी' शब्द 'वामनावतार' के लिए लाया गया है।

अब 'गोविन्द' शब्द को लीजिये—

गोविन्द कोपि चक्र कर लीन्हों।

भीष्म की प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए जिस समय श्रीकृष्ण ने अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ दिया उस स्थल का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण जी के लिए 'गोविन्द' शब्द का प्रयोग किया गया है।

'गोविन्द सौ पति पाय, कहां मन अनत लगावै।'

यहाँ विनय में इष्टदेव को 'गोविन्द' नाम से पुकारा गया है।

'खेलन चलिय वाल गोविन्द'

वाल-लीला के वर्णन में वाल-गोविन्द श्रीकृष्ण के लिए है। पुनः 'गोवरधन-धारण' में श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहा गया है—

'जय माधव गोविन्द मुकुन्द हरि'

श्रीकृष्ण को 'राजिवनैन' 'कमल नयन' आदि नामों से भी सूरदासजी ने स्मरण किया है। यह सभी नाम विष्णु के पर्याय-वाची हैं। इन नामों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूरदास के लिए श्रीकृष्ण विष्णु भगवान के अवतार थे।

फ़र्कुहर के कथन से विदित होता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय वाले कृष्ण को ब्रह्म, सत्-चित्-आनन्द स्वरूप, मानते हैं और उसे विष्णु, ब्रह्मा और महेश से परे समझते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश-यह त्रिमूर्ति पुराणों द्वारा विक-सित धर्म का मूल है। अठारह पुराणों में से प्रायः सभी पुराणों ने इन्हीं त्रिदेवों में से किसी एक को प्रधानता देकर उसी सम्बन्ध में कुछ विचित्र चरित्रों का गान किया है। सभी पुराण इन देवों में से किसी न किसी के महत्त्व और गौरव का प्रतिपादन करने के लिए लिखे गये प्रतीत होते हैं। इन पुराणों ने प्रत्येक देव का एक विशेष रूप खड़ा कर दिया है। उसका चरित्र और उसके कार्य एक विशेपता लिये हुए हैं, जिससे तीनों देव बिना हिच-किचाहट के स्पष्ट पृथक् जाने जा सकते हैं।

सूरदासजी में हमें इन्हीं विष्णु के दर्शन मिलते हैं। सभी वैष्णवों की तरह यहाँ श्रीकृष्ण को अवतार तो माना ही गया है; अनेक स्थलों से यह भी स्पष्ट सूचित होता है कि श्रीकृष्ण अवतार तो हैं ही परन्तु विष्णु के अवतार हैं। कृष्ण का वर्णन करते समय जहाँ उन्हें त्रिमूर्ति के अन्य देवों के वर्णन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई है वहाँ उन्होंने ब्रह्मा और शिव इन दो देवों का ही वर्णन किया है विष्णु का नहीं। इससे भी यही स्पष्ट होता है कि वे कृष्ण को विष्णु समझते हैं, अन्यथा वे विष्णु का भी वर्णन साथ ही करते, जैसे तुलसीदासजी ने अनेक स्थलों पर किया है।

ऐसी दशा में हम यह नहीं मान सकते कि सूरदास कृष्ण को ब्रह्म समझते हैं और उन्हें विष्णु, ब्रह्मा, और महेश इन तीनों से ऊपर कोई शक्ति मानते हैं।

ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं जहाँ कृष्ण को अवतार बतलाया गया है। अपनी स्वाभाविक सुन्दर शैली में सूरदास ने बड़े ही श्लाघनीय ढंग से श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार बतलाया है। वही विष्णु जिनकी नाभि के कमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुआ, वही विष्णु जिसने दश अवतार ग्रहण किये, राम बनकर सीता खोजी, रावण का संहार किया तथा वामन बनकर बलि को छला और तीन डगों में सारे लोकों को नाप लिया, वही विष्णु जिन्होंने परशुराम बन कर पृथ्वी को क्षत्रिय-रहित करने

की प्रतिज्ञा की, वही विष्णु जो शेषशायी और क्षीर-सागर-निवासी है, वही भागवत् के विष्णु हैं। वामन-अवतार का वर्णन करते हुए सूरदासजी लिखते हैं:—

ए तौ विप्र न होवे राजा, आये छलन मुरारी,
कहिधौं शुक्र कहाधौं कीजै; आपुन भए भिखारी,
जब ही उदक दियो वलि राजा, वामन देह पसारी,
जय जयकार भयो भुवि नापत, तीन पैंड़ भई सारी,
आध पैंड़ दे वसुधा राजा; नातरु चल सत हारी,
अब सत क्यों हारौं जगस्वामी, नापौ देह हमारी,
सूरदास वलि सर्वस दीनौं, पायो राज पतारी,

जानकी के वियोग में रामचन्द्रजी की विह्वल दशा का वर्णन करते-करते कवि अपनी टिप्पणी देता है:-सूरदास प्रभु प्रिया प्रेम-वश, निज महिमाहु बिसारी—'निज महिमा' से सूरदास (प्रभु की ओर) उनके विष्णुत्व की मर्यादा की ओर संकेत करते हैं।

श्रीकृष्ण जन्म के समय विष्णु के दर्शन का वर्णन है:—

'हरि मुख देखिये बसुदेव,
कोटि काम सरूप सुन्दर, कोउ न जानत भेव।
चारि भुज जाके चारि आयुध निरख लै कर ताउ॥

यहां 'कोऊ न जानत भेव' और 'चारि भुज जाके चारि आयुध' ये वाक्य कृष्ण के विष्णु अवतार की ओर संकेत कर रहे हैं।

अब श्रीकृष्ण के स्वप्न का वर्णन देखिये। सूरदासजी कृष्ण में जो शक्ति अनुमान करते हैं, उस शक्ति का स्वप्न भी किसी वास्तविकता से शून्य नहीं हो सकता। साधारण मनुष्य चाहे न समझ सके, परन्तु दिव्य-दृष्टि के लिए-देवताओं के लिए वह रहस्य इतना गुप्त नहीं रहता। उसे देख कर ब्रह्मा तथा शिवजी भ्रम में पड़ जाते हैं:—

'देखि स्वप्न गति त्रिभुवन कंप्यो, ईस विरंचि भ्रमावै'—

ब्रह्मा और शिव को भ्रम में डालने वाली बात यह है:—

स्वास उदर उरसति यौं मानों, दुग्ध सिन्धु छवि पावै।
नाभि सरोज प्रकट पद्मासन उतरि नाल पछितावै॥
कर सिरतरु करि श्याम मनोहर अलक अधिक सौं भावै।
सूरदास मानों पन्नगपति, प्रभु ऊपर फन छावै॥

पालने का शयन यशोदा और गोकुल-वासियों की दृष्टि में है। परन्तु देवताओं की दृष्टि में वही शेषशायी विष्णु का शयन है। यहां सूरदास ने लोकों की अर्थात् संसार की दृष्टि और देवों की दृष्टि अलंकार के सहारे बड़े ही कौशल से एक स्थान पर रख दी है। इसको जानकर फिर कोई सन्देह नहीं रहता कि श्रीकृष्ण की लौकिक क्रियायें अपनी दैवी क्रियायों से पूर्ण तुल्यता रखती हैं। वे अलौकिक की प्रतिरूप हैं। श्रीकृष्ण—वह श्रीकृष्ण, जो यशोदा के पालने में शयन कर रहे हैं शेषशायी विष्णु ही हैं।

फिर सूरदास कृष्ण को ही दशों अवतार लेने वाला बतलाकर हमारे निश्चय को और भी दृढ़ कर देते हैं। यहां कवि ने काव्य-कौशल से काम लेकर हमें यह दिखाया है कि भगवान् विष्णु ने सगुण बालरूप कैसे धारण किया? माता के लिए वह किस रूप में प्रकट होते हैं? माता यशोदा कृष्ण से कहती हैं कि हे लाल जंगल में हौवा आगया है इसलिए दूर खेलने न जाना। बलराम को यशोदा के इस मातृोचित आदेश पर हँसी आजाती है। वे श्रीकृष्ण के विराट् अवतारशील रूपों का स्मरण करते हैं और इस समय के अबोध बाल-जीवन के ऊपर विचार करते हैं। वे कहते हैं:—

अब डरपत सुनि-सुनि ए बातें, कहत हँसत बलदाऊ।
सप्त रसातल शेषासन रहे, तब की सुरत भुलाऊ॥
चारि वेद लै गयो संखासुर, जल में रहे लुकाऊ।
मीन रूप धरि कैं जब मार्‌यो, तबहिं रहे कहाँ हाऊ॥
मथि समुद्र सुर असुरन के हित, मंदर जलधि धँसाऊ।
कमठरूप धरि धरनि पीठ पर, सुख पायो सहि राऊ॥
जब हिरनाच्छ युद्ध अभिलाख्यौ, मनमें अति गरवाऊ।
धरि वाराह रूप रिपु मार्‌यौ, लै छिति दंत अगाऊ॥
विकट रूप अवतार धर्‌यो जब, सो प्रहलादहि नाऊ।
धरि नृसिंह जब असुर विदार्‌यो, वहां न देख्यो हाऊ॥
वामन रूप धर्‌यो बलि छलि कैं, तीन पैंड वसुधाऊ।
स्रम जल ब्रह्म कमंडलु राख्यौ, दरस चरन परसाऊ॥
मार्‌यौ मुनि बिन ही अपराधहिं, कामधेनु लै आऊ।
इकइस बार निछत्र जब कीनी, तहाँ न देखे हाऊ॥

सूर्पनखा तारिका सँहारी, खर दूषन त्रिसिराऊ ।
सिंधु सेतु बांध्यौ पषान सौं, तहां न देखे हाऊ ॥
राम रूप रावन जब मारयौ, दस सिर बीस भुजाऊ ।
लंक जराय छार जब कीनी, तहां न देखे हाऊ ॥
नृपति भीम सौं युद्ध परस्पर, तहँ वह भाव बताऊ ।
तुरत चीर द्वै टूक कियो धरि, ऐसे त्रिभुवन राऊ ॥
यमुना के तट धेनु चरावत, तहां सघन बन झाऊ ।
पैठि पताल व्याल गहि नाथ्यौ, तहां न देखे हाऊ ॥
माटी के मिस बदन बिगारयो, जब जननी डरपाऊ ।
मुख भीतर त्रैलोक दिखायो, तबऊ प्रतीत न आऊ ॥
भक्त हेतु अवतार धरे सब.......................

बलराम फिर श्रीकृष्ण की अलौकिकता की ओर संकेत करते हैं। श्रीकृष्ण बाँध दिये गये हैं। उस समय बलरामजी का कथन देखिये—

निरखि स्याम हलधर मुसुकाने ।
को बांधै को छोरे इनको, यह महिमा एई पै जानैं ॥
उत्पति प्रलय करत हैं एई, सेष सहस मुख सुजस बखानैं ।

फिर लिखा है—

निगम स्वरूप देखि गोकुल हरि,
जाको दरस दूरि देवन को ।
सो बांध्यौ यसुदा ऊखल धरि ॥

× × ×

चीर समुद्र सयन संतत जेहि ।
मांगत दूध पतोखी दै भरि ॥

भक्त के वश होने के कारण अनन्त के सान्त रूप होजाने से जो विपमता दीख पड़ती है, उसे भक्त अपार अनुकम्पा समझ कर उसी पर अत्यन्त विमुग्ध और लट्टू हो जाता है। इसी भक्त-भावना से प्रेरित होकर सूरदास ने इस 'विपमता' को कई स्थानों पर दिखाया है और उस पर मुग्ध हुए हैं। लौकिक रूप से तुलना करने के लिए अलौकिक रूप दिखलाना पड़ा है। यही विराट रूप शेषशायी विष्णु का स्वरूप है। इसी विपमता के लिए सूरदासजी लिखते हैं:—

वदन विरंचि विशेप सुकृत ब्रजवासिन के।
श्री हरि जिनके भेप सुकृत ब्रजवासिन के॥
ज्योति रूप जगनाथ जगत-गुरु, जगत पिता जगदीस।
योग यज्ञ जप तप में दुर्लभ, गोपन गोकुल ईस॥
इक इक रोम विराज कोटि तनु, कोटि कोटि ब्रह्मण्ड।
सो लीनों अवछंग यशोदा, अपने भरि भुजदण्ड॥
जाके उदर लोक त्रय जल थल, पंच तत्व चौखानि।
सो बालक ह्वै झूलत पलना, यशुमति भवनहिं आनि॥
छिति मिति त्रिपद करी करुनामय, बलि छलि दियो पतार।
देहरि उलंघि सकत नहिं सो अब, खेलत नंद दुआर॥
अनुदिन सुरतरु पंच सुधारस, चिंतामनि सुर धेनु।
सो तजि यसुमति को पय पीवत, भक्तन के सुख देनु॥
रवि ससि कोटि कला अवलोकत, त्रिविध ताप छप जाइ।
सो अञ्जन करलै सुत कहि चपु, आँजत यशुमति माइ॥

*　　*　　*

गोवर्धन-धारण के समय श्रीकृष्ण की इस प्रकार प्रार्थना की गयी है:—

"जय माधव गोविन्द मुकुन्द हरि।
कृपासिन्धु कल्यान कंस अरि ॥
प्रनतपाल केशव कमला पति।
कृष्ण कमल लोचन अनन्य गति ॥
श्री रामचन्द्र राजीव नैन वर।
सरन साधु श्रीपति सारंग धर ॥
वनमाली विट्ठल वामन बल—

उपर्युक्त सभी नाम विष्णु के हैं। सूरदासजी ने फिर बलराम को हँसने का अवसर दिया। गोवर्द्धन उठा चुके हैं, यशोदा पुत्र प्रेम में श्रीकृष्ण की भुजाओं को दाब रही हैं। वह समझती हैं कि इतना विशाल पहाड़ उठाये रहने से बांह में पीड़ा होती होगी परन्तु बलराम हँसते हैं :—

ठाड़े देखि हँसत बलराम।
चौदह भुवन उदर में जाके,
गिरिवर धरयो बहुत यह काम ॥

भला वह कोई बात भी हो, यशोदा घबड़ा रहीं हैं—अरे—

कोटि ब्रह्माण्ड रोम—रोमनि प्रति, जहां तहां निसि वासर धाम।

फिर भी बड़ा आश्चर्य यह है कि—

जोइ आवत सोइ देखि चकृत ह्वै, कहत—करे हरि केसे काम ॥

अरे ! ये अबोध क्या जाने-इन्हीं कृष्ण ने—

नाभि कमल ब्रह्मा प्रगटाये, देखि जलार्नंव तज्यो विश्राम।
आवत जात बीच ही भटक्यो, दुखित भयो खोजत निज धाम ॥

घोर आश्चर्य है—

तिनसों कहत सकल ब्रजवासी,
कैसे कर राख्यो गिरि स्याम,

इन अवतरणों से यह निर्विवाद परिलक्षित है कि श्रीकृष्ण अवतार थे, विष्णु के अवतार थे। हम देख ही चुके हैं कि श्रीकृष्ण के अलौकिक कृत्यों का तथा उनकी अलौकिक दशा का जहाँ भी वर्णन किया गया है उसमें विष्णु के गुणों का आरोप है-परन्तु कहीं भी श्रीकृष्ण को विष्णु नाम से नहीं पुकारा गया। जहाँ कृष्ण के नामों की गिनती की गयी है, वहाँ भी 'विष्णु' नाम नहीं लाया गया। गोविन्द, मुकुन्द, हरि, वामन, रामचन्द्र, विट्ठल, केशव, माधव ये नाम तो लिये गये हैं परन्तु विष्णु नाम नहीं लिया गया।

फिर क्या गोविन्द, मुकुन्द, हरि आदि से किसी और का तात्पर्य समझा जाय ? नहीं। इसका निर्णय भी हो जाता है। हमारे यहाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है। यदि कहीं कृष्ण का वर्णन करते समय शिव और ब्रह्मा का ही उल्लेख किया जाय, विष्णु का वर्णन न हो तो यह मान लेना चाहिये कि कवि श्रीकृष्ण को ही विष्णु समझता है। इसमें कोई

दोष भी नहीं । इसी लिए कई स्थलों पर ब्रह्मा और शिव का वर्णन किया गया है विष्णु का नहीं । राम के रण का वर्णन है–

आजु अति कोपे हैं रन राम ।
ब्रह्मादिक आरूढ़ विमानन देखें सुर संग्राम ॥

× × ×

इन्द्र हँस्यो हर हँसि बिलखान्यो, जानि बचन सों भंग ।

यहां ब्रह्मा और शिव का उल्लेख है, इन्द्रदेव तक का वर्णन है परन्तु विष्णु का नहीं ।

' दिनकर किरन उदित ब्रह्मादिक, रुद्रादिक इक ठाऊँ ' ।

यहां भो ब्रह्मा और रुद्र का उल्लेख है विष्णु का नहीं ।

कर गहि पग अँगुठा मुख मेलत ।

× × ×

'सिव' सोचत 'विधि' बुद्धि विचारत बट बाढ़्यो सागर जल झेलत ।

शिव यहां और ब्रह्मा का उल्लेख है विष्णु का नहीं ।

"देखि स्वप्न गति त्रिभुवन कंप्यो ईस विरंचि, भ्रमावे" ।

यहां भी केवल ईस और विरंचि का ही वर्णन है ।

जगदीश भगवान् श्रीकृष्ण के पदों का वर्णन करते हुए लिखा गया है:—

'चरन कमल वन्दौं जगदीश जे गोधन के सँग धाये" ।

× × × ×

'जे पद कमल शम्भु चतुरानन,
हृदय कमल अन्तर राखे ।

यहाँ भी केवल शम्भु और चतुरानन का ही उल्लेख है ।

जब ब्रह्मा का उल्लेख है, शिव का उल्लेख है तो विष्णु कौन हैं ? क्या सूरदासजी नहीं जानते थे ? यह कभी सम्भव नहीं कि पुराण-गाथाओं में पारंगत सूरदासजी विष्णु से परिचित न हों । अतएव फिर उन्होंने विष्णु का उल्लेख क्यों नहीं किया ? फलतः इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वही अलौकिक कृष्ण विष्णु हैं । इसीलिए त्रिमूर्ति में कृष्ण के समक्ष ब्रह्मा और शिव का ही नाम लिया गया है । अतः सूरदासजी कृष्ण को विष्णु का अवतार मानते थे ।

---

सहायक तथा पठनीय पुस्तकें

हिन्दी—चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता; धीरेन्द्र वर्मा: अष्टछाप; सूरसागर ( वेंकटेश्वर प्रेस ); संक्षिप्त सूरसागर ( हि० सा० स० प्रयाग ); पं० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी: सूर-साहित्य ।

अंगरेजी—The Pushti Marga of Vallabha Acharya: Indian Historical Qarterly, Calcutta; Furquhar: An Outline of the Religious Literature of Hindus; Bhandarkar: Vaisnavism, Saivism and minor Religious Systems; Wilson: Vishnu Purana; Dr. Janardan Misra: Surdas.

— ४ —

# तुलसी के राम

साकार और निराकार, सान्त और अनन्त-यह विरोध संसार के सम्मुख एक समस्या की तरह सदा रहा है। इनमें वास्तव में कोई अन्तर है भी अथवा नहीं इस प्रश्न पर केवल दार्शनिकों ने ही विचार नहीं किया, वैज्ञानिकों ने भी किया है। ऐनर्जी और मैटर में क्या अन्तर है? दोनों परस्पर एक दूसरे के ही रूपान्तर मात्र तो नहीं! प्रत्येक वस्तु की दो दिशायें होती हैं: एक पॉज़ीटिव और दूसरी नेगेटिव—एक धनात्मक दूसरी

ऋणात्मक। इन दोनों के बिना किसी भी वस्तु का रूप पूर्ण नहीं होगा। ऋणात्मक और धनात्मक रूप में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं। काले तख्ते की एक उपयोग में आने वाली काली पालिश से युक्त दिशा है; तो दूसरी काम में न आने वाली उज्वल। दोनों से मिलकर एक बनता है। साकार और निराकार, सान्त और अनन्त, इनमें कुछ भेद नहीं; दोनों में व्यवधान भी नहीं।

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा, गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई, भगत प्रेमवस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोई कैसे, जलु हिम उपल विलगु नहिं जैसे॥

जल का रूपान्तर ओला है; भाप का रूपान्तर जल है। किसी ताप के कारण उनके द्रव अथवा निराकार की साकार व्यञ्जना हो जाती है। जल ओले का ऋण रूप है और ओला जल का धन रूप। ब्रह्म अपने नेति रूप में शुद्ध सत्ता का अनुभव करता है, हम उसे तब निरुपाधि कह सकते हैं। वीणा के तारों से उद्मुदित स्वर विशेष शुद्ध, विशेष गतिवान और विशेष स्वतन्त्र है। वह निःसीम है, अनन्त है, पर वह परिमिति की सीमा में रहता है। सान्त के न रहने से अनन्त का क्या होगा, इसकी कल्पना महाकवि भी नहीं कर सकता। वीणा में तार न रहने से—अथवा आकाश में गति न रहने से स्वर कहाँ सुन सकेंगे? वह संगीत कहाँ मिल सकेगा? सान्त में आकर अनन्त ब्रह्म का नेति रूप व्यक्त होता है। व्यक्त के न होने से अव्यक्त

का हम नाम तक नहीं रख सकते, यद्यपि व्यक्त सत्ता, परिमिति शून्य ही नहीं सभी उपाधियों से रहित होने के कारण, शुद्ध कही जा सकती है। ज्ञानवादी इसी शुद्ध ब्रह्म की उपासना करते हैं, और इसी कारण वे उसकी कोई धनात्मक परिभाषा सम्भव नहीं बतलाते। पर जल का जैसे घन-रूप सम्भव है, वैसे ही निराकार का साकार रूप सम्भव है। बिना दोनों के उसका रूप पूरा नहीं, उसका ज्ञान पूरा नहीं। ब्रह्म-ज्ञान का विषय इन्हीं विषमान्वयों का सुन्दर संग्रह है। ईशोपनिषद् बतलाता है:—

वह चलता है, वह चलता नहीं है।
वह पास है, वह दूर है।
वह प्रकाश है, वह अन्धकार है।
वह अमृत है, वह मृत है।

गीता के श्लोक में भी पाठनीय है—

ज्ञेयं यत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नास दुच्यते॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।
असक्तं सर्व भृच्चैवनिर्गुणं गुण भोक्तृच॥ *

तुलसीदास जी इसी विषमान्वय ( Contradiction ) को इस रूप में रखते हैं—

* गीता अ० १३ श्लो० १२, १३, और १४,

बिनुपद–वह चलता है, वह नहीं चलता ( उसके पैर नहीं )।

सुने बिनु काना–वह सुनता है, वह नहीं सुनता ( उसके कान नहीं )।

कर बिनु कर्म करै–वह कर्म करता है, वह कर्म नहीं करता ( उसके हाथ नहीं )।

आनन रहित सकल रस भोगी–वह रसास्वाद करता है, वह रसास्वाद नहीं करता ( उसके मुख नहीं )

बिनु बानी बकता–वह बोलता है, वह बोलता नहीं ( उसके वाणी नहीं )।

तन बिनु परस–वह स्पर्श करता है, वह स्पर्श नहीं करता ( उसके तन नहीं )।

नयन बिनु देखा–वह देखता है, वह नहीं देखता ( उसके नेत्र नहीं )।

गहइ घ्राण बिन बास–वह सूँघता है, वह सूँघता नहीं ( उसके घ्राणेन्द्रिय नहीं )।

फिर भी नेति रूप को प्रधानता दी जाती है। इसीलिए तुलसीदासजी अपने राम के सम्बन्ध में शिवजी से कहलाते हैं—

निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी,
प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी।

जथा गगन घन पटल निहारी।
झाँपेउ भानु कहहिं कुविचारी ।
चितव जो लोचन अँगुलि लाये,
प्रकट जुगुल ससि तेहि के भाये।
उमा! राम विषयक अस मोहा,
नभ-तम धूम-धूर जिमि सोहा ।

विकारों के द्वारा जाना जाता हुआ भी विकारों का नहीं। विकार केवल हमारी स्थूल-दृष्टि को रोकते हैं। घन-पटल हमारी दृष्टि को रोकते हैं, सूर्य को न छिपाते हैं, न छिपा सकते हैं। अस्त और उदय सूर्य के गुण नहीं, वह अबाध गति से निरन्तर प्रकाशमान है। ये शब्द तो हमारी अपेक्षा के लिए बनाये गये हैं। इसे दोष कहिये, मोह कहिये, विकार कहिये, पर यह भी एक सत्य है। उदय एक सत्य है, अन्त दूसरा। एक सत्य सूर्य का सदा प्रकाशमान रहना है, दूसरा उसका झँप जाना। बिना इन सब के सूर्य का रूप कुछ नहीं।

इन धन और ऋण के विषमान्वयों का समीकरण तुलसी दास ने रामावतार के द्वारा किया है। विकार ही ग्रहण योग्यता है, उसकी भित्ति मनुष्य-ज्ञान की परिधि के लिए आवश्यक है, पर इसी को सब कुछ न समझ लिया जाय, इसलिए सूर्य की झलक यदाकदा दिखाते रहना कितना आवश्यक है! किसी के जन्म-समय से ही सृष्टि घनाच्छादित रहे और उसके आजीवन उसी रूप में बनी रहे तो सूर्य के सम्बन्ध में उसकी क्या धारणा

होगी ? इसी मनोवृत्ति से सावन के अन्धे को सदा हरा सूझता है—दूसरा रूप फिर उसे दिखायी नहीं पड़ता। अतः स्मृति को जागृत रखने के लिये वस्तु की वास्तविकता का भी पाठ पढ़ाते रहना चाहिये–विशेपकर ऐसे स्थलों पर जहाँ कि विशेप भ्रम में पड़ जाने की सम्भावना हो। तुलसीदास के राम–चरित्र में यही मनोवृत्ति ठीक रूप में चरितार्थ है। इसी सिद्धान्त को लेकर तुलसीदासजी ने उन स्थलों पर जहाँ—

या तो राम का प्रभाव प्रकट करना किसी कारणवश आवश्यक है या उनका चरित्र अत्यन्त मानवीय हो गया है, या तो किसी पात्र के मुख से (पहली अवस्था में) अथवा अपनी ओर से (दूसरी अवस्था में), यह बतलाना उचित ही समझा कि……

भगत, भूमि भूसुर सुरभि, सुरहित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तन…………

अङ्गरेज़ी कवि ब्राउनिंग ने 'ग्रामेरियनस फ्युनरल' नामक काव्य लिखा। वह छोटी सी कविता है। शववाहक वैयाकरण के गुणों का वर्णन करते हुए शव को श्मशान की ओर ले जा रहे हैं। कहीं ग्रामेरियन की प्रशस्ति–गीतिका पाठकों को इतना अभिभूत न करले कि उनको यह विस्मृत हो जाय कि शव श्मशान की ओर जा रहा है, अतः बीच बीच में ब्राउनिंग ने कई स्थानों पर अनायास शववाहकों की गति–विधि का उल्लेख कर दिया है।

और यह ठीक ही है। इससे कला में कोई विक्षेप नहीं पड़ता। तुलसीदासजी ने भी कुछ ऐसे ही सिद्धान्तों से काम लिया है।

मानव-चरित्र में ईश्वर-चरित्र की संयोजना दिखाना वे आवश्यक समझते थे। कहीं एक के कारण दूसरा आच्छादित न हो जाय—उनका मन्तव्य सदा यही रहा।

मानव-चरित्र में ईश्वरत्व की उचित संयोजना सरल नहीं। ईश्वरत्व और मनुष्यत्व दोनों ही उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव की वस्तुएं हैं। एक आकाश—दूसरा पाताल—दिन और रात की तरह दोनों की सुन्दर सन्धि रामचरित-मानस में है। कहाँ विकार शून्य अनन्त ईश्वरत्व, कहाँ मानवीय दुर्बलताओं से आ-क्रान्त सान्त मनुष्यत्व! दोनों की सुन्दर मंत्रणा राम के चरित्र में है। यहाँ वीणा का तार भी है और स्वर भी।

संसार में प्रतिभाशाली कवियों की जितनी कोटियां हैं, उनमें से दो मुख्य हैं। एक वह जिसमें कवि का मानसिक विकासमात्र प्रतिभा की कोटि तक पहुँचा हो। ऐसे कवियों में शेक्सपियर बिहारी आदि गण्य हैं। इनकी कृति में सब कुछ होता है, कला के लिए जितना आवश्यक है उतना सब होता है, पर सामग्री रूप में ही। उसकी कलात्मक व्यवस्था इन मानसिक प्रतिभाओं में नहीं दीखती। इनकी ऊँची से ऊँची कला की कृति भी वह पवित्र मनोरञ्जन नहीं दे सकती। उसके मनोरञ्जन में कहीं पर दाह रहता है, वह बूरे में किसकिसाहट की तरह एक बार उस अक्षुण्ण माधुर्य्य में हलकी किरकिरी पैदा कर देता है।

दूसरी कोटि में वह कवि हैं जिनका मानसिक-विकास और चरित्र-विकास दोनों ही प्रतिभा कोटि के होते हैं। सोने में सुगन्ध मिल जाती है। यह नहीं कि वह उपयोगिता की ओर बढ़ जाती है, वरन् उसका क्षेत्र अगाध और विस्तृत हो जाता है। उनकी कृति में कलात्मक व्यवस्था पूर्ण दिखायीः पड़ती है। उसमें मनोरञ्जन चाहे जिस रूप में उपस्थित होकर विषय-व्यापार की ओर विशृंखलित भाव से मनुष्य के मस्तिष्क को नहीं आकर्षित करता, वरन् एक दिव्यता और सौम्यता से गम्भीर रूप में व्यवस्थित रहता है। यह आनन्द अनिर्वचनीय होता है, इसमें किसी भी कोने में दाह दफ़न नहीं रहता। यहाँ कला की सामग्री भी है और कलात्मक व्यवस्था भी। पहले की अपेक्षा इस प्रतिभा से पूर्ण कृतियां वास्तविक अर्थ में विश्व की विभूति होती हैं, कुछ साहित्यिकों की अथवा कुछ कलावादियों की ही नहीं। यह प्रतिभा अवश्य ही निसर्ग-नियमानुगत शिव-सन्देश से समुत्फुल्ल रहती है, धर्म और नैतिकता के सुन्दरतम सिद्धान्त को पचाये होती है। मिल्टन और तुलसीदास इसी कोटि के कलाकार हैं। इसी कला की कूँचियों से सत्य-शिव राम के चरित्र-चित्र की रेखाएं खींची गयी हैं, उनमें कला भी है, कला की व्यवस्था भी।

हाँ तो, राम मनुष्य भी हैं और ईश्वर भी। अनन्त ने सान्त रूप किया है। उसकी अनन्त सत्ता सान्त के नियमों से बाँधी

गयी है। ऐसी दशा में क्या आशा करनी चाहिये ? यह तो प्रश्न ही दूसरा है कि राम में ईश्वरत्व स्थापन करना औचित्य की सीमा में है अथवा नहीं ? एक कलाकार को कला की दृष्टि से ऐसा करना चाहिए था अथवा नहीं ? जिस प्रतिभा ने रामचरितमानस को अवतीर्ण किया वह प्रतिभा इस विश्व को एकांगी नहीं दिखा सकती थी। अखिल विश्व का समष्टिरूप भाव और अभाव के संयोग से ही ग्रहण किया जाने योग्य है, इसलिए राम में मनुष्यत्व और ईश्वरत्व दोनों का समावेश उस व्याप्त-उदार प्रतिभा को करना पड़ा—यह विषय ही पृथक है। पर ऐसा होने पर हम क्या आशा करेंगे ? मनुष्यत्व की और ईश्वरत्व की रक्षा कैसे होगी और फिर कला की रक्षा कैसे हो सकेगी ?

अनन्तत्व एक भारी तत्व है। सान्त की व्याख्या ही अनन्तत्व में है। तब यदि अनन्तत्व अथवा ईश्वरत्व का संयोग मनुष्यत्व अथवा सान्तत्व से करने पर कहीं अनन्तत्व का पलड़ा भारी दीख पड़े तो यह क्या अस्वाभिक होगा, कदाचित नहीं। पर कलाकार व्याख्या करने बैठा है—उसने राम के रूप में आदर्श मनुष्य की व्याख्या की है-अतः मानव-विकास भी पूरी तरह स्वाभाविक नियमों में बँधा दीखता है। हमें यही देखना है।

सान्त में होते हुए अनन्त की दो क्रियाएं स्वयं हो सकती हैं। कभी मानवीयत्व की अधिक प्रबलता और कभी अनन्तत्व की।

मानवीयता की दशा में अनन्त अपनी शक्ति और सत्ता को विस्मृत भर कर देता है—उसे खो नहीं बैठता। उस दशा में उसमें अनन्तत्व की भी झलक कहीं केवल दिव्य दृष्टिधारी ही देख सकते हैं।

दूसरी स्थिति वह हो सकती है जहाँ मानवीयता भी अपने अधिकार में चैतन्य हो, और अनन्तत्व भी अर्द्ध-विस्मृत दशा में हो। ऐसी स्थिति में कार्य मानवीय होंगे परन्तु उनमें शक्ति और तेज दैवी जैसा प्रकट होगा। उस समय उनके मुख की कान्ति ही साधारण जन को उनकी असाधारणता की सूचना देगी, उनके अनन्तत्व का ज्ञान उनके हृदय में प्रेरित कर देगी।

तीसरी स्थिति वह हो सकती है जब मानवीयता विस्मृत हो जाय और अनन्तत्व ही जागृत दिखायी पड़े।

राम में इन तीनों दशाओं का स्पष्ट आभास दिखायी पड़ता है, और वह अनुकूल अवसरों पर। अब हम यह विचार करें कि, स्वाभाविक ढङ्ग से कैसे स्थलों पर उपरोक्त प्रकारों में से किस प्रकार का चरित्र दीख पड़ेगा ?

उदाहरणार्थ हम ऐसे व्यक्ति को ले सकते हैं जो अध्यापक है, और उसका भाई उसी के विद्यालय में विद्यार्थी। अब उसके विद्यार्थी के साथ दो सम्बन्ध हैं। घरेलू और स्कूली। स्कूल के बच्चों के सामने वह अपने भाई को शिष्य की भांति समझेगा।

स्कूल में अकेले में भी वह भाई से भाई की ही तरह बात कर सकेगा अथवा घरेलू आवश्यकता आ पड़ने पर वह स्कूल में भी भाई की तरह व्यवहार करेगा, अथवा उसे संकटापन्न देखकर वह अपने घरेलू सम्बन्ध को दिखायेगा।

राम को अवतार ग्रहण करने पर तीन प्रकार के अपने सम्बन्धी मिले—

एक वह जो उन्हें अपना पुत्र समझते थे अथवा अपना सम्बन्धी समझते थे। वे उन्हें सान्त में ही देखना चाहते थे, अन्य किसी रूप का ज्ञान उनके जीवन को भारमय बना सकता था। इसीलिए दशरथ जी ने भगवान से यही याचना की थी:—

सुत विषयक तव पद रति होऊ।
मोहि बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ॥

हम स्पष्ट देखते हैं कि ऐसे स्थानों पर राम केवल मानवीय हैं। यहाँ अनन्तत्व उन्हें विस्मृत रहता है। दशरथ के चरित्र का अंकन इसी प्रतिबंध की सीमा में किया गया है। उनसे जानने वाले ज्ञानी कहते हैं, राम ब्रह्म है, वह सच्चिदानन्द है। परन्तु वरदान के कारण उस पर विश्वास करके उसके अनुकूल अपना आचरण नहीं कर सकते। वे कहते तो हैं:—

सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं।
राम चराचर नायक अहहीं॥

यहाँ पर पितृभाव दशरथ में प्रबल है। वे रामचन्द्रजी का चराचर नायक होना, दूसरों के कहने पर भले ही मान लें, परन्तु यह ज्ञान विश्वास की कोटि का नहीं। केवल मन की उस स्थिति की सूचना देता है, जब कि मनुष्य अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए, जिस बात पर वह विश्वास नहीं करता, उसे भी मान लेता है। दशरथ के हृदय में कैसी मर्मान्तक पीड़ा है, उस पीड़ा की जलन तब और भी तीव्र हो उठती है जब वे राम के बिछोह का कारण सोचने लगते हैं। उनके हृदय में बड़ी तीव्रता से एक प्रश्न उठता है :—

'और करै अपराध कोउ और पाव फल भोगु ?'

इस रहस्य का उद्‌घाटन राम ही क्यों न कर दें ! सम्भव है इस प्रश्न के उत्तर में ही राम रह जायँ। भाई तुम्हें तो सब चराचर-नायक कहते हैं, और यह सुनते आये हैं कि चराचर नायक ( ईश ) 'देइ फलु हृदय विचारी'। तो हृदय में विचार करो भाई, 'करै जो करम पाव फल सोई'; न्याय करो। मेरे कर्मों के कारण तुम क्यों वन जाते हो ? इन शब्दों में तुलसीदास जी ने बड़ी भारी व्यञ्जना से काम लिया है। दशरथ जी की दयनीय दशा, उनके मन की व्यथा और जीवन की एक महत्तम समस्या, सभी प्रत्यक्ष हैं। दशरथ जी यह विश्वास नहीं करते कि राम चराचर-नायक हैं, तभी उन्होंने 'मुनि कहहीं' शब्दों का प्रयोग किया है। और क्यों ऐसा किया है इसका उत्तर ऊपर दिया जा

चुका है। यह वह स्थिति है जब दशरथ जी में पितृत्व की अधिक मात्रा है, जब वे वात्सल्य को हृदय में असह्य व्यथा से दाबे हुए हैं—उस स्थिति में राम के ब्रह्मत्व में कभी विश्वास हो ही नहीं सकता। दशरथ जी के वाक्य राम के प्रति नितान्त स्वाभाविक हैं। उन्होंने राम को मानवीय ही माना है, देवत्व का आक्षेप वस्तुतः नहीं है। पर यह नहीं कि दशरथ जी ने कभी राम के देव-रूप का ज्ञान जाना ही न हो। जब रामचन्द्रजी के पैदा होने का सम्वाद दशरथ जी को मिला तो उनके हृदय में एक अत्यन्त स्वाभाविक प्रेरणा की तरह यह ज्ञान उदित हुआ कि—

जाकर नाम सुनत सुभ होई।
मोरे गृह आवा प्रभु सोई॥

यह ज्ञान क्षण भर के लिए हुआ और पानी के बुदबुदे की भांति सदा के लिए विलीयमान हो गया। दशरथ जी में पुत्र-प्रेम होने के समय पितृत्व का आरम्भ भर ही था। वह दो अवस्थाओं की संधि थी, इसीलिए पूर्वज्ञान की संचित स्मृति में प्रकाश की क्षीण रेखा की तरह यह भाव चमका और विलीन हो गया। फिर पितृत्व ही प्रधान रहा और वरदान काम करता रहा। दुर्वासा के शाप से दुष्यन्त अपने किये हुए कर्म को विस्मृत कर बैठा, फिर यह तो दशरथ में हलकी-सी प्रेरणा थी, यह शीघ्र ही विलुप्त हो गयी तो आश्चर्य नहीं, ऐसा नितान्त स्वाभाविक ही है। दशरथ के मानसिक क्षेत्र में राम का यह विकास कितना सहज है।

दूसरे वे पुरुष जिनसे राम अर्द्ध घनिष्ठ हैं। वे उनमें अनन्तत्व देखते हैं, उनमें विश्वास भी रखते हैं, परन्तु मानवीयता की विशेष जागृति होने के कारण वे उस रूप के अनुकूल क्रिया करने में हिचकते हैं। जनकपुरी के लोगों के सामने राम ऐसे ही हैं। सीता से अनन्त सम्बन्ध होने के कारण उनका अनन्तत्व जागृत होता है, और सब उसके आतंक को मानते हैं, परन्तु धनुष टूट जाने का काम समाप्त होजाने पर धीरे धीरे वह अनन्तत्व लुप्त हो जाता है और मनुष्य चकरा जाते हैं। इसीलिए कभी राम को ब्रह्म समझ कर वे जनक की तरह कहने लगते हैं, 'व्यापक ब्रह्म अलख अविनासी'। स्त्रियाँ अधिक अस्थिर प्रकृति वाली होती हैं। एक प्रभाव में आकर वे एक बात कहती हैं और शीघ्र दूसरे प्रभाव में पड़कर कुछ और कहने लगती हैं। उनकी ( ficklemindedness ) 'अधर बुद्धि' में जागृति और सुषुप्ति दशा की राम सम्बन्धी प्रतिक्रिया तुलसीदासजी ने कितनी अच्छी प्रकार दिखलायी है।

वे प्रेमावेश में राम की खुशामद सी करती हुई,

.................. ..........................जोरि कर पुनि पुनि कहइ।
बलि जाउँ तात सुजान तुम कहँ, विदित गति सबकी अहइ॥
परिवार पुरजन मोहि राजहि, प्रानप्रिय सिय जानिबी।
तुलसी सुसील सनेह लखि, निज किंकरी करि मानिबी॥

× × × ×

तुम परिपूरन काम, जानि-सिरोमन भाव-प्रिय ।
जन-गुन-गाहक राम, दोष-दलन करुणायतन ॥

× × × ×

अस कहि रही चरन गहि रानी ।
प्रेम पंक जनु गिरा समानी ॥

तुलसीदासजी ने राम की प्रशंसा जिन शब्दों में सासुओं के द्वारा करायी है वह श्लाघनीय है । 'तुम कहँ विदित गति सबकी अहइ' 'तुम परि पूरन काम' 'जानि-सिरोमनि' 'भाव-प्रिय' 'ज़न-गुन-गाहक' 'दोष-दलन' 'करुनायतन' ।

ये शब्द निश्चय रूप से राम का ब्रह्मत्व प्रतिपादन नहीं करते केवल उसकी ध्वनि भर देते हैं । जैसे सन्दिग्ध अवस्था में मनुष्य हलके विशेषणों से काम लेता है, उसी प्रकार सीता की माता ने राम के लिए वही विशेषण प्रयुक्त किये हैं, जो बहुत ही हलके हैं, और जो ब्रह्मत्व सम्बन्धी किसी निश्चय की सूचना नहीं देते । ये शब्द अत्यन्त प्रेमार्द्र सासु अपने किसी भी रामचन्द्रजी जैसे प्रभावशाली चक्रवर्ती राजा के पुत्र जामातृ से कह सकती हैं, और तब ये शब्द किसी प्रकार का ब्रह्मत्व प्रतिपादन नहीं कर सकते । रामचन्द्रजी के पैरों में गिरना आर्द्रता की पराकाष्ठा है; यह ब्रह्मत्व की प्रबल ज्ञान सम्पन्नता के कारण नहीं । जनकजी जानते हैं कि राम ब्रह्म हैं, और शिव-धनुष तोड़ने पर उन्हें वास्तव में पूर्ण विश्वास हो जाता है । वे अपनी

रानियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानवान हैं—उन्होंने जो शब्द राम के लिए कहे हैं, उनसे रानियों के वचनों को तुलना की जाय तो विदित हो जायगा कि रामचन्द्रजी के ब्रह्मत्व के सम्बन्ध में उनके मस्तिष्क में निश्चय की बहुत कमी थी। इसी कारण वे राम को निश्चय ही ब्रह्मत्व-बोधक विशेषणों के द्वारा सम्बोधन नहीं कर सकीं।

इसी जागृत-अनन्तत्व और सुषुप्त-अनन्तत्व का परिचय सिय-स्वयम्वर में भी दिखायी पड़ता है।

स्वयम्वर में सभी प्रकार के राजा एकत्र हुए हैं, इसे तुलसीदास जी ने बहुत ही भली प्रकार बताया है। उन्होंने उपस्थित समाज को भले और बुरे राजाओं में बाँट दिया है। भले राजा शीघ्र ही राम को पहचान लेते हैं और कहते हैं—

जगत पिता रघुपतिहिं विचारी।
भरि लोचन छवि लेहु निहारी॥

वहीं मूढ़ राजा यह भी कहते हैं—

एक बार कालहु किन होऊ।
सिय हित समर जितव हम सोऊ॥

यदि यहाँ रामचन्द्र जी का अनन्तत्व पूर्ण उद्भासित होता तो सम्भव है राम का आतंक मूढ़ राजाओं पर भी छा जाता, पर वह यहाँ अर्द्ध-जागृत अवस्था में है, उसमें पूर्ण निश्चयात्मकता

नहीं। यदि और गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट परिलक्षित हो जायगा कि इन राजाओं को यह आभास कैसे हो गया। और, कथा के प्रवाह का ध्यान रक्खा जाय तो यह भी विदित हो जायगा कि क्यों इन राजाओं के द्वारा राम की पूजा-अर्चना कराके शिथिलता नहीं लायी गयी, केवल शब्दों में ही सब कुछ व्यक्त कर दिया गया है। फिर तुलसीदासजी की आचार-दृष्टि ( Ethical theory)) में भक्तों की श्रेणियां बनी हुई है। राजा की भक्ति सब में होती है। सभी उनके चरण भी छूना चाहें तो क्या कहीं कभी ऐसा देखा गया है कि सब को अवसर मिला हो। अतः बहुत से देखकर ही सन्तुष्ट रहते हैं। अत्यन्त निकट के व्यक्तियों को वह सौभाग्य भी प्राप्त होजाता है, और तुलसीदास के सिद्धान्त से सभी राम के चरण छूने के भागी नहीं, अतः उनमें अपनी कोटि की ही उत्सुकता पैदा होती है। फिर मूढ़ों में तो वह भी नहीं होती।

मूरख हृदय न चेत,
जो गुरु मिलहिं विरंचि सम,
फूलहि फलहि न बेत,
जदपि सुधा बरसहिं जलद।

राम का अनन्तत्व अस्फुट था, और साथ ही राजा मूढ़ थे, अतः तुलसीदासजी ने दिखलाया कि उन राजाओं पर भले राजाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

तीसरे वह पुरुष जो उनके अपने हैं। उनके सामने राम अपना रूप खोल कर रख देते हैं। उनके सामने वे मनुष्य की तरह नहीं, ब्रह्म की तरह बोलते हैं, उन्हें अपना धाम देते हैं। ऐसे लोग हैं 'अनन्य भक्त'।

अनन्त और सान्त का संयोजन इन्हीं तीन सीमाओं के भीतर होने से स्वाभाविकता के घेरे में रह सकता है, अन्यथा रूप अस्वाभाविक और अकलात्मक होजायगा।

बालकाण्ड में राम में अनन्तत्व अर्द्ध-जागृत दशा में है और मानवीयता जागृत दशा में मिलती है। इस काण्ड में राम अपनी माता, कर्मकाण्डी ज्ञानियों और जनकपुर में रहते हैं।

अयोध्याकाण्ड में राम का अनन्तत्व अधिकांश विस्मृत है। यहाँ वे अधिकांश माता-पिता-परिजनों के मध्य में हैं।

अरण्यकाण्ड में राम भक्तों के बीच में और अकेले अपने जनों में हैं। इस काण्ड में उनका अनन्तत्व विशेष जागृत है। ऐसा क्यों है, इसका उत्तर तो स्वतः राम ने अरण्यकांण्ड में नारदजी को दिया है:—

जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ।
जन सन कबहु कि करौं दुराऊ॥

अयोध्याकाण्ड में रामचन्द्रजी जब अयोध्या को, अपने कुटुम्बियों और प्रजा को छोड़ कर चलते हैं तो जो घनिष्ठता

उनके ऊपर अपना पर्दा डाले हुए थी, उनके अनन्तत्व को एक सीमा में बांधे हुए थी, वह अब उतनी नहीं रही। फिर भी अभी संकोच शेष है। भारद्वाज मुनि उन्हें पहचानते हैं। वे ज्ञानी अधिक हैं, भक्त उतनी कोटि के नहीं। अतः वे राम की प्रशंसा कर सकते हैं, उनमें आनन्द-विभोर नहीं हो सकते। भक्त को कुछ ज्ञान नहीं रहता। जब वह ज्ञान की सहायता से भक्ति का निखरा रूप प्राप्त कर लेता है, तब उसका अन्य ज्ञान विस्मृत हो जाता है, यदि स्मृत रहता है तो केवल दैन्य। अरण्यकाण्ड का सुतीक्ष्ण उसी कोटि का भक्त है। वह कहता है—

जे जानहिं ते जानहु स्वामी, सगुन अगुन उर अंतरजामी।
जो कोशल पति राजिव नैना, करउ सो राम हृदय मम ऐना।

वह सब भूल गया है, उसी की अनन्य तन्मयता का चित्र तुलसीदासजी ने खींच कर अमर कर दिया है—

निर्भर प्रेम-मगन मुनि ज्ञानी, कहि न जाइ सो दसा भवानी।
दिसि अरु विदिस पंथ नहिं सूझा, को मैं चलेउं कहाँ नहिं बूझा।
कबहुँक फिर पाछे पुनि जाई, कबहुँक नृत्य करइ मुनि गाई।

अतः भारद्वाजजी अब रामचन्द्रजी से कहते हैं:—

करम बचन मन छांड़ि छलु, जब लगि जन न तुम्हार।
तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं, किये कोटि उपचार॥

× × × ×

सुनि मुनि वचन राम सकुचाने—

वह संकोच से दवे हुए, अपना हृदय मुनि के समक्ष न खोल सके और शिष्ट भाषा में, अनन्तत्व को छिपाते हुए कहा:—

सो वड़ सो सव गुन गन-गेहू, जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू।

यह कोरा शिष्टाचार है। इन्हीं राम को ज़रा सुतीक्ष्ण के सामने देखिये। उनका वह संकोच बिल्कुल दूर हो गया है। भला ऐसे भक्त के सम्मुख, केवल वचन से और केवल भाव से भक्त रहने वाले के सम्मुख नहीं, वरन् मन-क्रम-वचन सब से अपना भक्त हो जाने वाले सुतीक्ष्ण के सामने उनकी यह संकोचशीलता कहाँ रहती है। ध्यानावस्थित मुनि को राम जगा रहे हैं—

मुनिहिं राम वहु भांति जगावा। जाग न ध्यान जनित सुख पावा॥

तब—

भूप रूप तव राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप दिखावा॥

उन मुनि जी से राम अपने आप कहने लगते हैं:—

परम प्रसन्न जान मुनि मोही। जो वर मांगेहु देउँ सो तोही॥

यहाँ वह संकोच नहीं, वह क्षोभ नहीं।

वाल्मीकि से मिलते समय भी वही संकोच उपस्थित है।

वाल्मीकि रामचन्द्रजी को पहचानते हैं, वे भारद्वाजजी से कहीं अधिक स्पष्ट शब्दों में कहते हैं:—

श्रुति सेतु पालक राम तुम,
जगदीस माया जानकी ।

× × ×

'राम सरूप तुम्हारा बचन अगोचर बुद्धि पर'

× × ×

जग पेखन तुम देखन हारे । विधि-हरि-संभु नचावन हारे ॥

वे तो बिलकुल पर्दा ही फाड़ देते हैं:—

नर तनु धरेउ संत सुर काजा । कहहु करहु जस प्राकृत राजा ॥

कैसा दार्शनिक उत्तर वाल्मीकि जी देते हैं:—

पूछेहु मोहि कि रहउँ कहँ, मैं पूँछत सकुचाहुँ ।
जहँ न होहु तहँ देहुँ कहि, तुम्हहिं देखावउँ ठाउँ ।

परन्तु इस भारी ज्ञान पूर्ण प्रशंसा का राम पर क्या प्रभाव पड़ता है—

सुनि मुनि बचन प्रेम रस साने, सकुचि राम मन महँ मुसकाने ।

—और बस । वह स्वतंत्र-भाव, वह छूट-पट्टी जिसके साथ रामचन्द्रजी सुतीक्ष्ण से, अन्त में जटायु से, एकान्त में नारदजी से, कबन्ध से, बालि से मिले हैं, यहाँ कहाँ है ?

तुलसीदासजी के ( Ethical ) आचार-विश्वासों में यदि देखा जाय तो भी इसका कारण मिल सकता है। जितने भी वैदिक-व्यक्ति हैं, वेद की मर्यादा के अनुकूल चलने वाले हैं, उनके समक्ष रामचन्द्रजी ने अपना संकोच ही प्रकट किया है, उनके सम्मुख वे अत्यन्त ही विनयावनत रहे हैं। विश्वामित्र, वशिष्ठ, भारद्वाज, वाल्मीकि और अत्रि से राम की भेंट का वर्णन पढ़ जाइये। ये ऋषि लोग जानते हैं कि राम कौन है, परन्तु राम उनके समक्ष अपना बड़प्पन नहीं दिखा सकते, आखिर राम ही तो श्रुति-सेतु-पालक हैं। वे मर्यादा का उल्लंघन कैसे कर सकते हैं।

अत्रि से वे कहते हैं:—

संतत मोपर कृपा करेहू, सेवक जानि तजेहु जनि नेहू।

रामचन्द्रजी उन्हीं अत्रि से कह रहे हैं जो राम की स्तुति करते हुए कहते हैं:—

त्वमेकमद्भुतं प्रभुं, निरीहमीश्वरं विभुम्।
जगद्गुरुं च शाश्वतं, तुरीय मेव केवलम्।
भजामि भाव वल्लभम्, कुयोगिनं सुदुर्लभम्।
स्व-भक्त-कल्प-पादपं, समं सुसेव्यमन्वहम्।

ऐसे अत्रि से राम कहते हैं, मैं सेवक हूँ मुझ पर स्नेह करते रहियेगा।

इन लोगों से उनका ऐसा व्यवहार क्यों है? क्यों विश्वा-

मित्रजी ने भी राम से मानवोचित व्यवहार किया है? इसका उत्तर एक और स्थान से मिल सकता है। वह है पार्वती मंगल में नारदजी और पार्वती की भेंट। वहाँ तुलसीदासजी ने अपने (Ethical) आचार सिद्धान्त को और भी स्पष्ट कर दिया है।

नारदजी जानते हैं पार्वती जगमाता है। अतः जब उमा को बुला कर, हिमाचल और मैना ने, नारदजी के चरणों में डाल दिया तो,

मुनि मन कीन्ह प्रनाम, बचन आसिष दई।

मन से प्रणाम किया, और प्रकट वचनों द्वारा उमा को आशीर्वाद दिया। पार्वती स्वतः अपने रूप में ही जगन्माता थीं। वे उसी रूप में शिव की अर्द्धाङ्गिनी हुईं, उन्होंने मानवी रूप धारण लीला के हेतु नहीं किया था, फिर भी लोकाचार की रक्षा के लिए नारदजी ने उन्हें आशीर्वाद ही दिया और इस प्रकार भेंट की मानो उस तथ्य से अपरिचित हों। फिर रामचन्द्रजी के साथ मुनि लोग, वैदिक ऋषि ऐसा ही व्यवहार क्यों न करते। वहाँ तो वे 'प्राकृत राजा' होकर कार्य कर रहे थे। वाल्मीकि जी ने स्पष्ट ही कह दिया कि आप ठीक ही करते हैं—'जस काछिय तस चाहिअ नाचा।' परन्तु इस (Ethical) व्याख्या के अतिरिक्त भी रामचन्द्र जी और मुनियों के शिष्टाचार पूर्ण व्यवहार का उत्तर मिल सकता है। और वह स्वाभाविक विकास के सहारे। केवल यह देख लेना आवश्यक है कि राम किस

स्थिति में, किस पुरुष से, कहाँ मिल रहे हैं ? उनका अनन्तत्व किस अवस्था में है ? अयोध्याकाण्ड में वे अपने कुटुम्बियों से घिरे हुए हैं, और अरण्यकाण्ड के आरम्भ तक, अत्रि और अनुसूइया से मिलने तक उनका अनन्तत्व अपूर्ण प्रस्फुटित हो चुका है। अत्रि और अनुसूइया चित्रकूट के पास ही रहते थे, उनकी कुटुम्बियों से गहरी भेंट थी, उनमें भी कुछ कुटुम्बत्व आ-गया है, तभी अनुसूइया ने सीता को उपदेश दिया है। उनके समक्ष राम कुछ व्यक्त नहीं करते, यद्यपि वे ( अत्रि ) सब कुछ जानते हैं, क्योंकि अब उनका अनन्तत्व पूर्ण प्रस्फुटित होने की अवस्था में आ पहुँचा है। इसलिए वशिष्ठ, विश्वामित्र, भारद्वाज, बाल्मीकि आदि की अपेक्षा अत्रि ने राम की अधिक अभ्यर्थना की है।

राम ने जब कहा कि मुनिवर मुझ पर स्नेह रहे तो अत्रि कहते हैं:—

जासु कृपा अज सिव सनकादी।
चहत सकल परमारथवादी॥
ते तुम्ह राम अ—काम पियारे।
दीन बन्धु मृदु वचन उचारे॥
अब जानी मैं श्री चतुराई।
भजिय तुम्हहि सब देव बिहाई॥
जेहि समान अतिसय नहिं कोई।
ताकर सील कस न अस होई॥

केहि विधि कहउँ जाहु अब स्वामी।
कहहु नाथ तुम्ह अन्तरजामी॥
अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा।
लोचन जल बह पुलक सरीरा॥

मुनि की ऐसी दशा हो गयी--

तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन,
नयन मुख पङ्कज दिये।

इस प्रकार हम मुनियों और रामचन्द्र जी के पारस्परिक व्यवहार को देखकर जान सकते हैं कि किस प्रकार रामचन्द्र जी के मानवी और दैवी चरित्र का विकास हुआ है।

रामचन्द्रजी के चरित्र-निर्माण में जिन तत्वों को काम में लाया गया है उनका संक्षेप हम यहाँ कर सकते है:—

१—अनन्तत्व और २—मनुष्यत्व

अनन्तत्व, मनुष्यत्व की सीमा से बँधा हुआ है। गृह-कुटुम्ब और अपनी पुरी में उनका मानवी रूप प्रधान है। यहाँ पर ऋषि वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि राम को जानते हैं पर शिष्टाचार और लोकाचार के विरुद्ध नहीं जा सकते। ये वैदिक ऋषि यह भी जानते हैं कि 'रामचन्द्रजी' 'जस काछिय तस चाहिये नाचा' के सिद्धान्त पर चलेंगे।

दशरथ जी के समक्ष राम सदा पुत्र-रूप में हैं, वे वरदान के आधीन हैं।

माता कौशिल्या से, कभी कभी अपना चमत्कृत रूप दिखा कर विनोद कर लेते हैं, पर माता आग्रह से राम को शिशु-भाव से देखना चाहती हैं।

अयोध्या से बाहर परन्तु निकट-क्षेत्रों में जाने पर उनकी मानवीयता तो पूर्ण रहती है, परन्तु अनन्तत्व की आभा कुछ विशेष प्रोद्भासित होने लगती है। इससे अधिक चैतन्य व्यक्ति उन्हें पहचान लेते हैं, कुछ कम चैतन्य द्विविधा में रहते हैं। उन का व्यवहार कभी भक्ति-पूर्ण होता है, कभी केवल लौकिक।

बनवास होजाने पर राम में उनकी मानवीयता से अनन्तत्व अधिक प्रस्फुटित है। अब वे लौकिक गृह-कुटुम्ब से बँधे नहीं, वरन् अपने मिशन पर चल पड़े हैं। बन में वे अपने भक्तों से मिलते हैं, उन पर अपना रूप भी प्रकट करते हैं।

यहाँ पर भी वे ऋषियों, ज्ञानी ऋषियों और वैदिक ऋषियों से उसी मर्यादा और संकोच से मिलते हैं। वे उन्हें स्वतः जानते हैं, राम उन पर अपने आप को व्यक्त नहीं करते।

अत्रि से मिलने के पश्चात् फिर राम को कोई वैदिक मुनि नहीं मिलता, अतः हमको ऐसे बहुत अवसर मिलते हैं जहाँ राम अपना रूप प्रकट करते, अपना धाम देते, अपनी कृपा ब्रह्मत्व के रूप में निस्संकोच प्रकट करते हैं। अपने भक्तों को बार बार अपना उपदेश देते दिखायी देते हैं।

जब उनके कृत्यों की इतनी ख्याति हो जाती है, उनके भक्तों की भीड़ बढ़ जाती है तो अयोध्या में लौटने पर भी वह फिर मन्द नहीं होती। यह है राम का संक्षिप्त विश्लेषण।

उत्तरकाण्ड में राम का अनन्तत्व पूर्ण प्रस्फुटित हो गया। अब सभी जान गये हैं कि जिनमें हमें कभी केवल झलक दिखलायी पड़ती थी, वह तो वस्तुतः स्वयंभू हैं। जहाँ तक लौकिक व्यवहारों का सम्बन्ध है, रामचन्द्रजी का मानवीय रूप कहीं भले ही प्रतीत हो, परन्तु अब वह संकोच नहीं रहा। उत्तरकाण्ड के वशिष्ठ और बालकाण्ड तथा अयोध्याकाण्ड के वशिष्ठ पर सरसरी दृष्टि डालने से उनमें एक परिवर्तन दिखायी देता है।

वशिष्ठ जी राम के सम्बन्ध में जानते हैं; वे दशरथ जी को बतलाते हैं:—

सुनु नृप जासु विमुख पछिताहीं।
जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥
भयेउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी।
राम पुनीत प्रेम अनुगामी॥

इतना जानते हुए भी वशिष्ठ जब राज्याभिषेक का सम्वाद सुनाने राम के पास जाते हैं तो—

सुनि सनेह साने वचन,
मुनि रघुवरहिं प्रशंस।

राम कस न तुम कहहु अस,
हंस—वंस—अवतंस ॥

रामचन्द्र जी की प्रशंसा करते हैं, और उनके गुन 'सील-सुभाऊ' की सराहना करते हैं, और 'हंस-वंस-अवतंस' कहकर उनके गुणों को सूर्यकुल के लिए सहज और स्वाभाविक वतलाते हैं। और इसमें रामचन्द्र जी में उन्हीं गुणों के होने का कारण वतलाते हैं। किस लिए मुनि ने जानते हुए भी इस अत्यन्त लौकिक शिष्टाचार को निवाहा ? क्यों न कह दिया कि तुम सर्वेश्वर हो, तुम्हारी सारी बातें अद्भुत हैं ?

चित्रकूट में वही वशिष्ठ जी राम से कहते हैं:—

तुम बिन राम सकल सुख साजा। नरक सरिस दुहुँ राज समाजा ॥
प्रान प्रान के जीव के, जिव सुख के सुख राम ।
तुम्ह तजि तात सुहात गृह, जिनहिं तिन्हहिं विधि वाम ॥
सो सुख धरमु करमु जरि जाऊ। जहँ न राम-पद पंकज भाऊ ॥
जोगु कुजोगु ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परिधानू ॥
तुम बिनु दुखी सुखी तुम्ह ते ही। तुम्ह जानउ जिय जो जेहि केही ॥
राउर आयसु सिर सबही के। विदित कृपालहि गति सब जी के ॥

ध्यानपूर्वक यदि इन पंक्तियों को देखा जाय तो यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि वशिष्ठजी पहले पुर-पुरजनों के प्रतिनिधि की तरह बात आरम्भ करते हैं, धीरे धीरे उसमें से उस प्रतिनिधित्व की कमी होती जाती है, और अन्त में एक आवेश में बढ़ते

बढ़ते वे मानो अपनी बात कहने लगते हैं। परिलक्षित तो यह होता है कि वे अभी कहना नहीं चाहते। पर आवेश भी कोई शक्ति है। वह कभी कभी अन्तर-रहस्य को प्रस्फुटित कर ही देता है, और इधर राम का अनन्तत्व भी कुछ अधिक जागृत हो गया है। अतः वशिष्ठ के वाक्यों में उसी परिमाण से लौकिक शिष्टाचार और आत्म-वेदना है।

यह वशिष्ठ जी उत्तरकाण्ड में रामचन्द्रजी की स्तुति करते हैं। यह गुरु-पदवी स्वीकार करने की कथा का वर्णन भी करते हैं, और अपने को धन्य समझते हैं।

इन दृष्टियों से विचार करने पर इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि राम में दोनों तत्त्वों का बहुत ही गम्भीर और कलात्मक संयोजन हुआ है। उनका चरित्र न केवल कवि की ऊहात्मक कल्पना को सन्तुष्ट करने के लिए है, और न कला की कोरी कलाबाजियां दिखाने के लिए है। उसमें जो रहस्य आ गया है वह आज का विषय नहीं हो सकता। निस्संदेह तुलसीदासजी ने रामायण की रचना कथात्मक ढंग से लिखी है। तभी उनको शंकर-पार्वती, कागभुसुंड-गरुड़, याज्ञवाल्क्य आदि की कथास्थलियों की रचना करनी पड़ी और इससे उसमें उस काल की धार्मिक-चर्चा ( discourse ) प्रणाली की कुछ झलक मिलती है। यह स्पष्ट उद्देश्य होते हुए कोई रामायण से सत्य-नारायण की कथा की तरह कोरी कथा होने की ही आशा कर

सकता था, या कोई बाइबिल और कुरान की तरह धार्मिक आदेशों का संग्रह मात्र समझ सकता था पर यह रामायण किसी भी होमर, किसी भी शेक्सपीयर, किसी भी दांते की समानता कर सकती है—वह है कलात्मक व्यवस्था के कारण।

यदि शेक्सपीयर ने तुलसी की तरह एक धार्मिक वातावरण में अपने नाटक लिखे होते तो वह भी कभी यह कौशल न दिखला सकते। यह तुलसी का ही काम था जो मरु में रम्यस्थली बना दी।

## सहायक तथा पठनीय पुस्तकें

हिन्दी—ईशोपनिषद; श्रीमद्‌गीता; तुलसी, पार्वती मंगल, राम चरित मानस; राजा लक्ष्मणसिंह: शकुन्तला नाटक; रामचन्द्र शुक्ल: तुलसीदास।

अंगरेज़ी—Browning: Grammarian's Funeral; Tagore: Personality.

— ५ —

# हिन्दी–कहानी की परिभाषा

कहानी की परिभाषा कला के अन्य अंगों की भांति दो प्रकार से की जा सकती है। ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से सापेक्षिक, और दूसरी व्यापक, साध्य तथा निरपेक्ष।

**परिभाषा** जब हम कहानी के आरम्भ और विकास को देखेंगे तो हमें यह विदित होगा कि वह हर काल में एक सी नहीं रही। अपने मूलसे जैसे-जैसे वह आगे बढ़ी है वैसे ही

वैसे उसके रूप में कुछ परिवर्तन दीखते हैं। उसके इस विकास को कुछ प्रमुख विशेषताओं के सहारे भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है। बचपन, युवा और वृद्धावस्था एक ही मनुष्य के जीवन--विकास में मिलती हैं। एक व्यक्ति की होने पर भी उनमें अपनी-अपनी विशेषताएँ होती ही हैं। उन विशेषताओं के सहारे प्रत्येक अवस्था में उसकी एक परिभाषा होती है—और भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न। काव्य को लीजिये—भामह कभी साहित्यदर्पणकार के इस मत से सहमत नहीं हो सकता था कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं'—एक अवस्था में 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' १

फिर

' सैह शरीरंच काव्यानामअलंकाराश्च दर्शितः
शरीरं तावद् इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली २

फिर

' रीतिरात्मा काव्यस्य। '

फिर

सहृदय हृदयाह्लादि शब्दार्थ ममत्वत एव काव्य लक्षणम्। ३

फिर

तद अदोषौ शब्दार्थौ सगुणवअवलंकृती पुन क्वचित ४

१—भामह। २—दण्डीः काव्यादर्श, १, १०। ३—ध्वनिकार
४—मम्मटः काव्यप्रकाश

फिर

'साधु शब्दार्थ संदर्भम् गुणालंकृतम् भूपितम्
स्फुट रीति रसोपेतम् काव्यं कुर्वित कीर्तये' ५

फिर

'वाक्यं रसात्मकम् काव्यं दोषसत्तस्यपकर्षकः
उत्कर्ष हेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीत्या' ६

फिर

'रमणीयार्थ प्रतिपादकः
शब्दः काव्यम्' ७

इतनी और वे भी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ उसी विकास की अवस्थाओं की द्योतक हैं। इतिहास के दृष्टिकोण से हम हिन्दी की कहानियों को भी कुछ अवस्था-कोटियों में विभाजित करेंगे।

कहानी के दो रूप

किसी भी नवोदित भाषा के आरम्भ का सारा साहित्य उस भाषा-सम्पत्ति का अनुवाद सा ही होता है, जिसकी संस्कृति की गोद में वह पली होती है। अनुवाद के अर्थ यह नहीं हैं कि किसी विशेष पुस्तक का शब्दशः उल्था कर डाला गया हो, वरन् तात्पर्य यह है कि

५—वागभट्टः वागभट्टालंकार १, २। ६—विश्वनाथ। ७—जगन्नाथ।

पूर्व-भाषा की संस्कृति और उसकी विचार-पद्धति केवल ज्यों की त्यों रूपान्तरित होती है। वही मस्तिष्क जो संस्कृत में लिखता, पाली में लिखने लगा, फिर अपभ्रंश में लिखने लगा और अब हिन्दी में लिखने लगा। वह व्यक्त करना चाहता है, पर व्यक्त करता है अपना रूप नहीं, अपने पूर्व का रूप और इस प्रकार अपने नये रूप की साधना में भी लगता है। धीरे-धीरे जब भाषा में बल आ जाता है, आकर्षण बढ़ जाता है तो उसका अपना स्वभाव अलग हो जाता है और कहानी के रूप भी दो होते हैं। एक वह जो निरक्षर भट्टाचार्य चौपालों और अगिहानों पर कहते हैं। क्यों कहते हैं वे ? क्या वे उत्तर दे सकते हैं ? दूसरा वह जो साक्षर विद्वान् लिखते हैं और पढ़ते हैं, सोद्देश्य। ये हर एक की व्याख्या कर सकते हैं और हर एक प्रश्न का समाधान उपस्थित कर सकते हैं। बोली भाषा का रूप धारण करने लगती है तो संधि-अवस्था में उसमें निरक्षरों की कहानियों की परम्परा को अवकाश मिलता है। किन्तु उसे साहित्यिक सहन नहीं कर सकता—वह उसकी उपेक्षा कर कुछ नयी रचनाओं की ओर प्रवृत्त होना चाहता है—और इस कार्य से पूर्व उसे अपने पूर्व-मस्तिष्क की रक्षा करनी पड़ती है और वह उस साहित्य को नयी भाषा में अनूदित कर देता है। इसी की गणना साहित्य में होती है, पहली कोटि की वस्तुएँ फिर उसी जन-समुद्र में विलीन हो जाती हैं।

पहली अवस्था में हिन्दी को प्राकृत और अपभ्रंश की संपत्ति मिली। प्राकृत और अपभ्रंश जो बौद्धों और जैनियों की संस्कृत थीं, रामायण और महाभारत की कहानियों से युक्त तो न थीं, पर जातक जैसी कहानियों की उनके पास कमी न थी। हिन्दी का उदय कितनी ही सदियों का काल था। बौद्ध और जैन मत में अब तक अनेक विकार हो चुके थे। वैष्णव सम्प्रदायों की भांति बौद्धों की महा-यान शाखा का अभिनियोग शैव और योगियों से हो गया था। सहजिया सम्प्रदाय का मूल इसी संधि में था। अनेक पन्थों का अवतार हुआ। गोरखनाथ, मुछन्दरनाथ, और भर्तृहरि की विलक्षण कथाएँ जातक के स्वभाव से मिलती जुलती हैं। उनकी कथाएँ इतनी अलौकिक थीं कि उस अलौकिकता में झूठ और सच का पहचानना भी कठिन था। उन कहानियों में यों हो कुछ सुनने योग्य उत्सुकता थी। मोरध्वज की तरह पूरनमल कुछ कम अपूर्व न थी। क्योंकि इनमें अलौकिकता ने सत्य को घटना की वास्तविकता की सीमा का बन्धन नहीं लगने दिया था। उनमें सत्य और घटना की सत्ता का परिचय न था। अतः जन-मस्तिष्क का उस अलौकिक को अलौकिक बनाने का बहुत प्रलोभन था।

**हिन्दी के उदय की अवस्था**

वास्तव में अलौकिकता में एक प्रेरणापूर्ण प्रलोभन है। मनुष्य कुछ कहना चाहता है और उसे ऐसे कहना चाहता है कि

**अलौकिकता की प्रेरणा**

उसी ने कहा हो। इस कारण उसमें जन-मस्तिष्क को छूट थी। उसने जितनी भी और जैसी भी अलौकिक बातें सुनी थीं वे सब जो भी उसका वर्ण्य हुआ उससे बद्ध करदीं। गद्य पद्य का प्रश्न छोड़ दीजिए। पृथ्वीराज रासो और बीसलदेव रासो के समय से ही कहानियों का उद्गार हिन्दी में होने लगा था। सूफ़ी सम्प्रदाय के अनुकरण में हिन्दी का प्रेम-मार्ग तो निरा कहानियों का सम्प्रदाय है। भर्तृहरि और पूरनमल की वार्ताओं में जो रोमान्स है, वही जन-कल्पना के साँचे में ढल कर उनमें प्रकट हो गया है। इंशाअल्लाख़ाँ की 'रानी केतकी की कहानी' उसी का रूप है। यद्यपि इस काल की कहानियों का सम्बन्ध धार्मिक सम्प्रदायों से था, किन्तु थीं वे कहानियाँ ही। उन्हें मैथालौजी नहीं कह सकते *। इसमें अर्थ का बाध नहीं

* A myth, in its simplest definition, is a story with a meaning attached to it, other than it seems to have at first, and the fact that it has such a meaning is generally marked by some of its circumstances being extraordinary or in the common use of word, unnatural. Now...in every myth of imporrance...you have to discern these three strutural parts—the root and the two branches:—the root is physical existence,sun or sky, or cloud or sea,...then the personal incarnation of that; becoming a trusted and compa nionable deity, with whom you may walk hand in hand, as a child with its brother or its sister, and lastly the moral signi-

होता और न इतर अर्थ ही प्रयोजनीय होता है। केवल चमत्कार और शक्ति का प्रतिपादन, कठिनाइयों का भीषण और उग्र रूप तथा उनसे निपटारा—यहीं ये समाप्त होती हैं। दिव्यता अथवा देवावतार और प्रकृत-रूपकता इनमें मिल सकती हैं, पर उनका गाम्भीर्य सप्रयोजन नहीं—इसका अभाव है।

इनमें ग्राम्य कहानियों का गुण मिलता है। स्वाभाविक और अस्वाभाविक का गुण इनमें अमान्य है। वह कहानी ही तो है—उसमें कल्पना की विचित्र शिल्प-कला जितना मनोरंजक रूप खड़ा कर सके उतना ही श्लाघनीय है। इसमें पशु-पक्षी बोलते हैं, योग और जादू का चमत्कार है, जिससे किसी का कुछ रूप कर देना असम्भव को सम्भव कर देता है। इस काल की कहानी एक अद्भुत योगी अथवा जादूगर की व्याख्या कही जा सकती है। निश्चय ही ये गोरख प्रभृति सम्प्रदाय से प्रभावित हैं। यही हिन्दी-कहानियों की इस काल में मौलिक प्रवृत्ति थी। लल्लूजीलाल की बैताल पचीसी आदि और सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान् अनुवाद थे और इनमें लौकिक तथा धार्मिक दोनों रुचि ही हमें मिलती हैं।

**ग्राम्य**

इसके बाद से प्रेमचन्दजी के पूर्व तक कहानियों की परिभाषा सरल और सीधी-सादी है। पत्रों का युग आ गया था,

ficance of the image, which is in all the great myths eternally and beneficiently true—The Queen of Air—Ruskin.

अँग्रेजी तथा अन्य भाषाओं का भी अध्ययन हो चला था—इस काल में कहानियाँ लिखी गयीं, किन्तु उनमें कृत्रिमता और साधारण प्रतिभा मिलती है।

अब तक कहानी का स्थान साहित्यिक नहीं हो पाया था। वार्ता के नाम से उपन्यास लिखे गये। परिहास के रूप में कहानी की भाँति छोटे मनोहर विवरण जैसे 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन' भारतेन्दु कृत, कभी-कभी भले ही दृष्टिगोचर हो जायँ, किन्तु ऐसी रचनाओं में एक-सूत्रता के अतिरिक्त कहानी के अन्य गुणों का अभाव ही मिलता है। इस काल में प्रयाग से प्रकाशित होने वाले 'हिन्दी प्रदीप' नामक मासिक पत्र के मुख-पृष्ठ के परिचय में केवल इतना लिखा मिलता है:—'विद्या, नाटक, इतिहास, साहित्य, दर्शन, राज्य-संबन्धी इत्यादि'—इसमें कहानी का न नाम होना ही इस काल कहानी के कम आदर का द्योतक है। यदि उपन्यासों को देखा जाय तो भी उनमें उपन्यास-कला का दिग्दर्शन नहीं मिलेगा। सामाजिक अवस्थाओं का चित्रण किया गया है। ये उपन्यास समाज की रीति-कुरीति की पुष्टि में कल्पित उदाहरण की तरह प्रतीत होते हैं। लेखक एक प्रचारक की भाँति अपने मत से संबन्ध रखने वाले पात्र के साथ हर प्रकार का जायज और नाजायज पक्षपात करता प्रतीत होता है। इसके साथ ही बंगला से अनेक उपन्यासों का अनुवाद हुआ। इस

**प्रेमचन्दजी तक निस्पंद चित्रण**

सबके साथ इस काल की कहानियों में घटनाओं की ही प्रधानता है। कथानक सीधा-साधा परिपाटियों की परम्परा से जकड़ा हुआ है। वह निस्पंद प्रकृति-दृश्यों और विलास-भवनों के शब्द-चित्रों की भूमिकाओं से खचा हुआ, रूप और आकृति से परि-पूर्ण किन्तु अर्थ-गम्भीरता और नवीनोन्मेष से शून्य है। इसमें केवल फीका मनोरंजन है; मस्तिष्क के लिए भोजन नहीं—चरित्र में पैठ नहीं—मनोवैज्ञानिक सूदम तत्वों की अवहेलना है।

**हिन्दी की साधना**

प्रेमचंदजी तक—यदि प्रेमचंदजी तक नहीं तो कम से कम द्विवेदीजी तक लेखकों के सामने भाषा का प्रश्न था। कैसी भाषा हो? और इस भाषा की ओर विद्वानों को कैसे आकर्षित किया जाय? हिन्दी का यह काल इसी साधना की व्यग्रता दिखाता है कि जिस साहित्य में जो भी अच्छा लगे उसे अपने यहाँ भरो—उसका अनुवाद करो। भाषा का परिवर्तन तथा परिमार्जन करो।

**परिवर्तन**

"लिखो, लिखो"—यह एक आन्दोलन की तरह व्याप्त हो रहा था। पत्र-पत्रिकाओं का युग था। साधारण-सी बात लिख सकने वाला भी लेखक था। साधारण कोटि के नाटकों और ग्रन्थों की संपादकों ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की—कुछ प्रोत्साहित करने के लिए, कुछ इसलिए कि जो भी लिख सकें वही श्लाघनीय। इसी कारण

साहित्य में विदग्धता का अभाव रहा। द्विवेजी तक आते-आते—और प्रेमचंदजी तक पहुँचते-पहुँचते हिन्दी के प्रति जनता का प्रेम भी प्रवल होगया। हिन्दी का महत्व भी समझ में आगया और हिन्दी के प्रेमी विद्वान् भी होने लगे। उनका मानसिक संस्कार होने लगा। वे कृत्य, प्रेरणा और परिणाम के पारस्परिक संबन्ध को समझने लगे। उनका दृष्टिकोण पूत विश्वजनीन भावनाओं से जगमगाने लगा। किन्तु अभी राष्ट्रीयता का युग था। भारत की भव्यता—उसकी रूढ़ियों में सुन्दरता ढूंढने का प्रयत्न निरन्तर था। 'हम सभ्य हैं, हमारे पूर्वज किसी से कम न थे, हमारी सभ्यता का वहां प्रारम्भ था जहां पाश्चात्य सभ्यता का अन्त होता है'। ऐसी धारणाएँ प्रवल थीं। हमें इन धारणाओं में आनंद मिलता था। इस काल की रचनाओं में इन्हीं धारणाओं का स्वरूप है। नयी शैली आगयी थी। चित्रण में वह शुष्कता जाती रही थी। एक स्फूर्ति थी—विविध चित्र अपनी निजी सत्ता के साथ—लेखक के पक्षपात अथवा कठपुतली के रूप में नहीं, आ रहे थे। पर उन सब की मिश्र प्रवृत्ति इसी ओर थी कि भारतीय-सभ्यता के मूल संस्कारों में श्रद्धा दिखलायी जाय और उन्हें मानव-जीवन के दात्त तथा उदात्त समाज-तत्वों के अनुकूल वताया जाय। प्रेमचन्दजी में इन भावनाओं का उद्रेक उस काल की ठीक परिभापा के अनुकूल था।

कहानियाँ प्रेमचन्दजी के हिन्दी में आने से पूर्व भी लिखी जाती थीं, किन्तु उस समय तक उनकी शक्ति का पता नहीं था।

प्रेमचन्द जी की कहानियों में जन-मस्तिष्क को आकर्षित करने और उस पर एक छाप छोड़ने की कला थी। उनकी रचनाओं से ही यह जाना गया कि कहानी का भी साहित्य में कोई स्थान है।

प्रेमचन्द के पूर्व हिन्दी-भाव जगत की अवस्था रूढ़यावलम्बी थी। कुछ ऐसी धारणाएँ थीं जो हिन्दू-समाज को अनुदार बनाये हुए थीं। प्रेमचन्दजी की रचनाओं ने उनमें क्रांति उपस्थित की। उनकी कहानियों और उपन्यासों में समाज के दैनिक साधारण चित्र पहले आये। फिर ये स्वभाव को टटोलने लगे और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संसार में एकान्त और एकदम बुरा कोई भी मनुष्य नहीं। उन्होंने पतित और भयानक तथा राक्षस व्यक्तियों को खड़ा किया। बड़े-बड़े कठोर और भीषण कर्म उनसे कराये परन्तु उनमें कहीं न कहीं सद्भाव की एक चिनगारी अवश्य छिपी रही। इस दृष्टि से संसार में पापी से पापी भी अवहेलनीय नहीं रह जाता। वे वेश्याओं में भी मानव और पुण्य-भावनाएँ जाग्रत करने लगे। वे मुसलमानों में उदारता की झलक और त्याग तथा सहिष्णुता पाने लगे। कहीं कहीं उनको हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक सद्वृत्ति वाला व्यक्ति भी मिला है और हिन्दुओं में उन्हें अनुदार और अनुदारता-पोषक व्यक्तियों के भी दर्शन हुए हैं। उन्हें ढोंगी और आडम्बरी भी मिले हैं। वे टामस हार्डी की तरह इस बात को माननेवाले हैं कि मनुष्य परिस्थितियों में अपना निर्माण करता है। उसमें दैवी गुण का सर्वथा अभाव

धारणा-काल

फिर भी नहीं हो जाता। समाज के नये रूप को भी उन्होंने देखा। उन्होंने स्त्रियों में शिक्षा के विस्तार में पर्दे को लुप्त होते हुए देखा। साहित्य और सभ्यता के नवोन्मेष के प्रेम को भी उन्होंने समझा। फिर वे उन परिस्थितियों का निर्माण भी करने चले जिनमें आदर्श की रक्षा होजाय और सामयिक समस्याओं का हल भी होजाय। उन्होंने प्रेम और कर्तव्य को कहीं-कहीं अलग चित्रित कर के वैवाहिक जीवन का चित्र उपस्थित किया है। एक स्त्री प्रेम किसी से कर सकती है, पर कर्तव्य का वह और किसी के प्रति निर्वाह करती है। इस अवस्था को सह लेनेवाले प्राणियों की भी उन्होंने सृष्टि की थी। वास्तव में यह प्रेम और कर्तव्य का द्विभाजन प्रेमचन्द की अपनी कला से बाहर की—अपने काल से आगे की वस्तु है। हर अवस्था में उन्होंने त्याग को महत्व दिया है और 'आत्म-शासन' को श्लाघनीय माना है।

यह भारतीय लेखक भारतीय समष्टि-भावनाओं के साथ राजनीतिक क्रांति की उष्मा को भी लिए हुए है। महात्माजी की अहिंसा में अत्यन्त श्रद्धा, हिन्दू-मुसलमानों के एक्य के लिए मुसलमानों के प्रति सद्भाव को जागृत करना, उस क्रांति के अवरोधक परिपाटी-पुरान के पोषकों की पोल खोलना, यह सब उसी प्रेरणा का फल है।

इस लेखक ने कहानियों के प्रति प्रेम और उनकी चाह उत्पन्न कर दी है।

इसी समय मानसिक असन्तोष की तुष्टि के लिए इस संसार से इतर अलौकिक सृष्टि की मनोरम रहस्य भावनाओं को छिपाये एक और लेखक आया। वह अपनी कोटि का निराला है। वह सामाजिक अथवा राजनीतिक संसार को देखता है—उसकी घटनाओं में कुछ और दीख जाता है। वह केवल व्यवहार से बँधा नहीं रहना चाहता। हृदय के रहस्य से हृदय को जानना चाहता है। वह उसके स्पन्दनों में अर्थ ढूँढता है। वह प्रकृति की क्रियाओं में, उसके साम्राज्य में एक अभूत व्यवहार देखता है, जहाँ भौतिक नहीं मानसिक विचार-विनिमय का साधन मिलता प्रतीत होता है। हिमालय पर्वत के पथिक को क्या दीखता है? वहाँ वह किस लिए जाता है? इस लेखक की कल्पना मैथालोजी की रहस्यमयता लिए हुए है। यह ऐसे स्थानों में जाना चाहता है, जहाँ कोई न गया हो। जहाँ किसी और का अस्तित्व न हो। 'आकाश-दीप' एकान्त शान्त स्थल में केवल हृदय के उद्गार-लोक में प्रज्वलित होता है। जयशङ्कर प्रसाद जी का अनुकरण नहीं हो सका। वे भी अभी तक अधिक न लिख सके। प्रकृति के प्रतीकों को ठीक मानवी दृष्टि से समझना उतना सरल नहीं—सरल हो पर उतना ग्राहकों को आकर्षित करने वाला नहीं। सब से बड़ी बात यह है कि उसमें लेखक को अवतारण और अवधारण से काम लेना पड़ता है। इसमें शक्ति-संचय को केन्द्रित करने के महान् उद्योग की आवश्यकता है।

**'प्रसाद'**

अब तक के लेखकों ने रूढ़ियों के जाल का विनाश किया। वे उनसे निकल कर उदार मानव-क्षेत्र में आये अथवा प्रकृति के रहस्यमय लोक में चले गये—किन्तु धारणाओं की भ्रान्ति नहीं मिटा सके। वेश्या बुरी नहीं, यह तो उन्होंने समझा परन्तु वेश्या वेश्या है भी या नहीं, अथवा वह वेश्या क्यों है, इस ओर वे न बढ़ सके। वह वेश्या है, यह धारणा उनमें थी। यह उन्होंने समाज से उधार ले ली थी। पाप-पुण्य, धर्म-कर्म, नियम-जीवन इन सब की आधार-भूत प्रचलित धारणाएँ इन्होंने अपनायीं। रिश्ते-नाते और सम्बन्धों को भी उसी चाल से देखा। संस्कृति का यह पलोथन उन्होंने लगा रहने दिया। इस काल तक का मनुष्य केवल अपनी निजी सृष्टि न था। वह किन्हीं प्रेरणाओं और धारणाओं के बन्धन में बँधा एक प्रवाह में वह जाने वाला था। वह अभी इन सारी अलौकिक व्यवस्थाओं की भूमिका में जितना सँभल सकता था सँभला और जितनी नवीनता ला सकता था लाया, परन्तु उस भूमिका के रूप--रंग में और उसके अन्तर में भी कोई कहानी छिपी है। बिना उस भूमिका के, भूमिका को चीड़--फाड़ कर भी, मनुष्य-जीवन की कहानियाँ और व्यवहार बने रह सकते हैं—यह वह नहीं जान पाया था। अभी तक हिन्दी की कहानियों में वही मनुष्य थे जो सदियों से चले आ रहे थे। वही पहाड़ और नदियां थीं। उन्हीं पुरानों को नये-नये ढंग से लाकर अथवा उन्हीं का रहस्योद्घाटन कर कहानियां बना ली गयीं। पर अब तो ब्रह्मा

की सृष्टि बिल्कुल नयी हो चली थी, इसका उन्हें पता न था।

अब बिलकुल कल का दिन आ गया। संसार में नये विचारों का बल बढ़ा। उनके बल से अभिप्राय केवल इतना है कि उन्होंने जो विचार उपस्थित किये उन को ठुकराया न जा सका। उन्होंने रूढ़ियों को ही नहीं धारणाओं को भी आड़े हाथों लिया। इन धारणाओं की समष्टि नीति ( मौरेलिटी ) के नाम से होती है। अब तक व्यवहार को ही उधेड़ा गया था, अब नीति को घूर--घूर कर देखा जाने लगा। संसार में तो अब तक अनेक अनैतिक, नॉन-मौरल, व्यक्ति थे, विलास--प्रिय भी थे, उच्छृङ्खल भी थे। समाज की एकरसता ने इन अपवादों की ओर आकर्षित होना आरम्भ किया। एक कहानी में सिकन्दर राजा और डाकू को कभी बराबर कहा गया था। निस्सन्देह वह कहानीकार यह कहते समय अनैतिक हो गया था। उसने इस वैज्ञानिक युग की प्रवृत्ति का परिचय दिया था। इस युग में ऐसे ही प्रश्न प्रत्येक युगों के उद्योग से स्थिर 'धृति' के विरुद्ध किये जाने लगे हैं और उन्हीं के रूपों की कहानियाँ हमारे सामने आने लगी हैं।

**विधायक विचार**

बर्नार्ड शॉ ने एक नयी विचार--धारा उपस्थित की। 'मैन एण्ड सुपरमैन' की भूमिका में उसने 'डॉन जुअन' के दार्शनिक अर्थ-ग्रहण के सम्बन्ध में जो बात कही है, उसका उल्लेख यह सूचित करेगा कि अब क्या विचारा जाने लगा है। डॉन जुअन एक पुराने नाटक का पात्र है जो

**अनीति**

बहुत ही उच्छृङ्खल और कामुक चित्रित किया गया है। शॉ उस डॉन जुअन की इस युग के लिए, व्याख्या करते हुए कहते हैं—

"दार्शनिक दृष्टि में डॉन जुअन वह मनुष्य है जो भले-बुरे का विवेक करने की यद्यपि असाधारण क्षमता रखता है, फिर भी अपनी प्रवृत्तियों का अनुसरण अन्धाधुन्ध बिना समाज तथा राज-नियमों का आदर किये ही करता है और इसी कारण जहाँ उसे अपनी विद्रोही प्रवृत्तियों की (जो उसके शक्ति-चमत्कार का सहयोग पाकर खिल उठती हैं) प्रबल सहानुभूति मिलती है, वहाँ उसे वर्तमान संस्थाओं के भीषण संघर्ष में पड़ जाना पड़ता है और छलबल से उसे अपनी रक्षा उसी अनैतिकता से करनी पड़ती है जिससे किसान अपनी फसल को ईति-भीति से बचाने के लिए करता है।" * यह साधारण वाक्य नहीं। मानवी दुर्बलता अथवा सबलता का पलड़ा इससे पलट रहा है। पाप-

* In the philosophic sense Don Juan is a man who, though gifted enough to be exceptionally capable of distinguishing between good and evil, follows his own instincts witheut regard to the common, statute, or canon law, and therefore whilst gaining the ardent sympathy of our rebellious instincts (which are flattered by the brilliances whith which Don Juan associates them) finds himself in mortal conflict with existing institutions and defends himself by fraud and force as unscrupulously as a farmer defends his crops by the same means against vermin.

पुण्य की परिभाषाएँ डगमगा रही हैं । जीवन-शक्ति कहाँ है ? वह प्रकृति के उद्देश्य को पूरा करने को आयी है—उसमें व्यभि-चार-अनाचार, अनीति और पाप की गन्ध कहां है ? जब जीवन-शक्ति मनुष्य-निर्मित नियमों से जकड़ दीजाती है तो वह क्षीण होने लगती है और मनुष्य से ऊपर परा-पुरुष की सृष्टि नहीं हो सकती । विवाह-बन्धन बन्धन है जो उत्तम सृष्टि का अवरोधक है । इस नाटक के मूलाश्रय 'दी रिवोलूशनिस्ट्स हैण्डबुक' में लेखक ने डॉन जुअन के प्रतिनिधि टैनर द्वारा लिखवाया है कि विवाह दो तत्वों से बना हुआ है—एक सम्भोग, प्रजा की उत्पत्ति के लिए, दूसरा, संस्कार, डोमैस्टिसिटी । प्रजोत्पत्ति विवाह का आवश्यक तत्व नहीं । अतः सम्भोग की स्वतन्त्रता होनी चाहिए तभी श्रेष्ठ प्रजा होसकती है । संस्कार के लिए विवाह अपेक्षित है, और वह इसीलिए है ।

इन सब बातों में विचार-विप्लव है । इसने समाज की अर्जित कीर्ति को चकनाचूर कर दिया है । स्त्री और पुरुष चाहे वे भाई और बहिन हों, पिता-पुत्री हों, देवर भाभी हों, पति-पत्नी हों, तह में, नंगे रूप में, हैं स्त्री और पुरुष ही ।

एक दृष्टि से हम यह देखें कि अति धार्मिक प्रवंचना में स्त्री को पुरुष से बाँध दिया गया है । 'असूर्यंपश्य' उसकी पवित्रता के लिए आवश्यक समझा गया है । सभ्यता-वृद्धि से मानसिक धारणा में सती-भाव को बनाये रख कर पुरुषों से मिलना-जुलना ठीक समझा गया । मिल

**स्त्री-पुरुष**

जुल सकता था पुरुष स्त्री से और स्त्री भी मिल सकती थी, किन्तु मानसिक व्यभिचार ही व्यभिचार है। शरीर का मूल्य क्या? उसमें क्या? मन-चंगा तो कठौती में गंगा—अन्न गल्पों और कहानियों में ऐसा भी आया कि भाई-बहिन से प्रेम हो गया। वे जानते थे कि समाज उनको इस अवस्था में सहन नहीं कर सकेगा—वे समाज को कोसते-कोसते जल-सात हो गये। आखिर तो तह में वे स्त्री पुरुष थे। फिर एक नया अवतरण उपस्थित हुआ।

'हम कहते हैं, पति और पत्नी, प्रेमी और प्रेयसी, माता पुत्र, बहिन और भाई। यह सब ठीक है। वे तो स्त्री--पुरुष के मध्य परस्पर योग-नियोग के मार्ग से बने नाना सम्बन्धों के लिए हमारे नियोजित नामकरण हैं। किन्तु सर्वत्र कुछ बात तो समभाव से व्यापी है। सब जगह स्त्री-पुरुष दोनों में हमें परस्पर दीखता है, आंशिक समर्पण, आंशिक श्रद्धा। सब कहीं एक दूसरे के प्रति इतना उन्मुख है कि वह उसको अपने भीतर समा लेना चाहता है। सब बातों के बीच में और इन सब बातों के पार भी यही है। एक में दूसरे पर विजय की भूख भी है, किन्तु एक को दूसरे के हाथों पराजय की भी चाहना है। एक दूसरे को जीतेगा भी, किन्तु उसके लिए मिटेगा भी कैसे नहीं? दोनों में परस्पर होड़ है, उतनी ही तीव्र जितन '.दोनों में परस्पर के लिए उत्सर्ग होने की प्रेरणा। वे दोनों भाव स्त्री-पुरुष के बीच

समतोल हैं। समतोल इसलिए नहीं कि वे बटे हुए हैं। प्रत्युत इसलिए कि वे दोनों ही वहां अपनी-अपनी पूर्णता में हैं…'

क्या यह शॉ के 'जीवन शक्ति' के सिद्धान्त की समीक्षा है? अब इसका रूप देखिए—

'सुनीता सो रही है—चट्टान पर, हरि प्रसन्न (सुनीता के पति का मित्र—जिसके लिए लाहौर से उसके पति ने लिख भेजा था '……तो भी तुम से कहता हूँ कि इन दिनों के लिए अपने को उसकी (हरिप्रसन्न) इच्छाओं के नीचे छोड़ देना) खिंच कर फिर वहीं बंधा खड़ा है—' उसे आता है ऐसा क्रोध, ऐसी स्पर्धा और ऐसा सम्मोह और ऐसी याचकता कि नहीं जानता कि इस लेटी हुई नारी को दोनों मुट्ठियों में जोर से पकड़ कर उसे मसल डालना चाहता है कि उसकी सारी जान लहू की बूँद बूँद करके उसमें चू जावे; या कि यह चाहता है कि आँसू बनकर वही खुद समग्र का समग्र अपने अणु-परिमाणु तक इसके चरणों में बेसुध होकर, आंसू बनकर वह उठे कि कभी थमे ही नहीं—सदा उन चरणों को धोता हुआ बहता ही रहे।"

वह खिंचकर आया था, इस लिए कि तुरन्त ही लौट जायगा, पर लौट नहीं सका वह तो दर्शन को पीने लगा। पीते-पीते—और लहक तो लहकती गयी।

सुनीता जाग उठी है। कह रही है—"तुम क्या चाहते हो, हरि बाबू ?"

"क्या चाहता हूँ ? तुमको चाहता हूँ। समूची तुमको चाहता हूँ और क्या चाहता हूँ ?"

"तो मैं तो हूँ, तुम्हारे सामने हूँ। ले क्यों नहीं लेते हो ?"

और सुनीता तमाम आवरण उतार कर, अनावृत्त अपने को समर्पित करती है—'हरि मुझे लो, (अन्तिम) आवरण भी हटाये देती हूँ। वही मुझे ढक रहा है। मुझे चाहते हो न ? मैं इन्कार नहीं करती यह लो—"

इसी का एक रूप और है।

"विनोद ने आंखें खोलीं, और अपने मुख पर झुकी हुई किरण की बाहों को खींच मुँह से लगा लिया, किरण स्मित मुस्कराई। कहा—"जीजी, याद आ रही है क्या ?"

पर विष तो विष ही है, नसों में घुसा कि शरीर में व्याप्त हुआ। उसकी बातों से विनोद का ऐसा साहस बढ़ा कि उसने उठती हुई किरण को खींचकर अपने ऊपर कर लिया और उसके आसन्न मुख को जूठा बना दिया, जैसे कोई नशे में बहकता चला जा रहा हो। कहा—"तुम तो मुझे अपनी जीजी से भी प्यारी हो, किरण ! फिर क्यों याद आने लगे ?"

किरण के लिए यह दुस्साहस एक-दम अप्रत्याशित था। घृणा से वह ऐसी हो गयी कि उसके मुख पर थूक दे ! पर वह गुम सुम ही रही—स्पर्धा के कोई भाव प्रकट नहीं किये । वह तो जान रही थी, कि वह गंगा-जल है—इस कूड़े-कर्कट से उसका क्या बनता-बिगड़ता है ? कहा—"जीजी से भी बढ़कर प्यारी हूँ, जीजा !"

और उत्तर में विनोद ने फिर चूमते हुए किञ्चित उग्र भाव से कहा—"तुम्हें विश्वास नहीं होता है, किरण !" मानो यही उसका प्यार था !

किरण कुछ देर तक यों ही पड़ी रही, फिर आंखें खोलकर उठती हुई बोली—" तो प्यार करो न जीजाजी ? मैं कब इसे इन्कार करती हूँ। मैं तो तुम्हारे सामने खड़ी हूँ......और उसने साड़ी का अञ्चल बदन से हटा दिया, ब्लाउज पहने थी, उसे भी खोल कर फेंक दिया। अब शरीर ढँकने को केवल एक ब्रेसरी रह गया था, उसे भी नौंच कर फेंकना चाहा कि विनोद झपट कर उसका हाथ पकड़ता हुआ हत्-बुद्ध सा होकर कांपता हुआ बोला—" किरण !"

यह मैं कहाँ हूँ, जीजाजी ? यह तो कपड़ा है, आवरण । इसी ने तो तुम्हें प्यार करने से अब तक वञ्चित रखा जीजा ! इसे फेंक दूं, तब मुझे प्यार करना ।" किरण स्मित हास्य से बोली, और झपट कर उसे भी फाड़ कर फेंका ! अब वह बिलकुल आवरण-हीन थी—नंगी-सी। फिर विनोद के निकट

बैठती हुई बोली—" मैं यह आगयी, जीजाजी ! लो अब मुझे प्यार करो। "

यह दृश्य अपने अतिरिक्त भी बहुत कुछ कहता है । यह नंगा है, पर अश्लील नहीं, गन्दा नहीं । यही इसकी विशेषता है ।

**विज्ञान**

कहानियों ने, यह निश्चय है कि, रूढ़ियों को ठुकराना आरम्भ कर दिया, पर रूढ़ियाँ हटने से, 'धृति' के जर्जरित होजाने से, मानवी प्रेरणाएँ और जीवन-चेष्टाएँ तथा जीवन का अर्थ क्या नहीं बदलेगा ? यह कैसे हो सकता है कि जब पारस्परिक नीति में कुछ और रहस्य है तो जीवन के अन्य पार्श्वों में वही है जो युग-प्रदत्त धारणा की तरह ग्रहण किये हुए हैं ।

इधर विज्ञान भी ज्ञान के प्राचीन भूमिका-पट को क्षत-विक्षत कर रहा था । युग-युगान्तरों से धर्म-प्रवर्तकों का काम इसी भूमिका-पट को क्षत-विक्षत कर नया बनाने का रहा है । उस नवीन उद्योग का अर्थ रहा है मानव-जीवन को अधिक से अधिक स्पष्ट करना । ईसा ने जो किया वही बुद्ध ने किया संसार के लिए, मुहम्मद ने वही एक क्षेत्र विशेष के लिए किया, और भी इसी प्रकार । वही काम वैज्ञानिक अनुसन्धान कर रहा है । अब तक मानव और उसके मस्तिष्क को उसकी भौतिक प्रक्रियाओं और उनके प्रतिफलन में देखा गया । यह काम मनोविज्ञान ने किया । इस मनोविज्ञान ने मनुष्य और परिस्थिति के सम्बन्ध

को भली प्रकार समझा। किन्तु विज्ञान एक सीढ़ी आगे और बढ़गया। वह मस्तिष्क की आभ्यन्तरिक परिस्थितियों की भी खोज-बीन करने लगा। हमारी अनिच्छित क्रिया में, जिसे हम भाग्य आदि के सहारे समझते हैं, ऐसी कोई बात नहीं, उस में धृति के बनने का कोई न कोई कारण है। मनोविश्लेषण शास्त्र ने बतलाया कि हमारी चेतना ही हम से काम नहीं कराती, उप-चेतना, सब कॉन्सैन्स, सब से अधिक प्रभाव डालती है। हम स्वप्न देखते हैं, अकारण नहीं; हम एक विशेष प्रकार का जीवन पसन्द करते हैं उसका भी कारण है।

**समाज**

कहानियाँ समाज और समाज के जीवों से संबंध रखती हैं। भारत का समाज यद्यपि परिवर्तित नहीं हुआ परन्तु समाज के जीवों के विधायक मस्तिष्क में हलचल है। कहानियों में भी हमें वही मिल रहा है। समाज का नियम है कि वह कुछ पसंद करता है, कुछ नापसंद। अपनी इस पसंदगी और नापसंदगी का वह अर्थ समझता है, और उसकी व्याख्या भी करता है। ये व्याख्याएँ उसकी अपने ज्ञान की गहराई के ही अनुकूल होती हैं! इस पसंदगी और नापसंदगी से पाप-पुण्य का उदय होता है। संपत्ति की भाँति यह पसंदगी तथा नापसंदगी भी पैतृक होती चली जाती है। इस पसंदगी अथवा नापसंदगी का मूल-स्रोत और कारण जितना ही पीछे पड़ जाता है, उतनाही उनका पालन रूढ़ि का रूप धारण करता है और पालनकर्ता उसमें जीवन न पाकर असंतुष्ट-सा होने लगता है।

है। उसके निजी विचार और उसकी धारणाएँ उसे अपनी तरह करने और सोचने को बाध्य करती हैं। वह रुकता है—पर रुकते-रुकते भी एक प्रवाह में पड़ कर वह उनके विरुद्ध कर बैठता है—इसे वह पाप समझने लगता है। इसलिए नहीं कि वह पाप है सचमुच, वरन् इसलिए कि उसका समाज उसे पसंद नहीं करता। धीरे-धीरे ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ेगी दो कारणों से, एक तो उन प्रथाओं में जीवन न रह जाने के कारण, दूसरे अपने आवेग के बल के कारण। इसके साथ ही उन प्रथाओं के सताए हुए व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति और युक्ति में भली प्रकार सन्तुष्ट न करने की सामर्थ्य भी न रहेगी। इस अवस्था में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का समर्थन होने लगेगा। समाज का संगठन-सूत्र ढीला हो जायगा। परन्तु समाज का नाश तो अभी नहीं हो सकता। वह तो चलेगा। उसमें परम्परा भोगी भी मिलेंगे, और परम्परा-विच्छेदक भी। उसमें गृहस्थी भी मिलेंगे और विरक्त भी। सभ्य भी, असभ्य और अर्द्ध-सभ्य भी। व्यक्तिवादी और व्यष्टिवादी भी, समाजवादी और समष्टिवादी भी। आस्तिक और नास्तिक, क्रान्ति-विश्वासी भी यहां रहेंगे और इन सबके साथ साथ संसार में नयी धाराएँ भी चलेंगी। यह बात नहीं कि बस जैसा है वैसा ही सदा रहे।

साहित्य में-और कहानी-साहित्य में भी ऐसी ही बात है। सभी कोटि के लेखक होने लगे हैं। कुछ लेखक कहानी को

उपयोग की दृष्टि से लिखते हैं। उसमें कोई न कोई
**उपसंहार** शिक्षा, कोई न कोई रचनात्मक व्याख्या अवश्य होनी चाहिए। समाज-सुधार के लिए, राष्ट्रीय विचारों को जाग्रत करने के लिए, धार्मिक प्रवृत्ति को प्रेरित करने तथा ऐसी ही अन्य बातों के लिए वे कहानी-निर्माण करते हैं। कुछ चाहते हैं सब कुछ व्यङ्ग हो—कहानी में स्पष्ट तथा नंगा चित्र न दिया जाय। कुछ यह सब व्यर्थ समझते हैं—वे कला को मनोरंजन के लिए ही समझते हैं, कुछ यह भी नहीं मानते, कहते हैं कहानी कहानी हो क्योंकि वह कहानी है। वह एक कहानी है, फिर उपयोगी भले ही न हो। एक कहानी में चित्र-मात्र ही खींचता है, एक उस चीज़ को सजीव बनाना चाहता है, एक आदर्श लेकर चलता है, एक आदर्श सिद्ध करता है, एक समाज के गुण-दोषों को समक्ष रख देता है, एक दोष ही दिखाना चाहता है दूसरा गुण ही। एक इतिहास से पात्र और विषय लेता है, एक समाज से और दूसरा कल्पना-जगत से पात्रों की सृष्टि करता है। एक लौकिक आधार से ही संतुष्ट रहता है, दूसरा आलौकिक तत्त्व भी रखता है। य सब विभिन्नताएँ कुछ न्यूनाधिक परिमाण से मिलती और चलती हैं। इनको परिभाषा में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। पर बिना इनको समझे परिभाषा का रूप स्पष्ट नहीं होता परिभाषा के लिए इनसे भी परिचित होना आवश्यक है।

---

सहायक तथा पठनीय पुस्तकें:—

हिन्दी—चित्रशाला प्रथम तथा द्वितीय भाग; प्रसाद: आकाशदीप; शिलीमुख: हिन्दी की आधुनिक कहानियां; सुदर्शन: सुदर्शन-सुधा; प्रेमचन्द: प्रेम द्वादशी, निर्मला, सप्तसरोज; श्री प्रेमचन्द जी की कला; जैनेन्द्र: सुनीता, त्यागपत्र; माचवे: जैनेन्द्र के विचार; गुलाबराय-महेन्द्र: प्रसाद जी की कला।

अंगरेज़ी—Ruskin: The Queen of Air; Bernard Shaw: Man and Superman; Prefaces; Hardy: Mayor of Casterbridge; Thomas Hardy His Mind and Art; Hudson: An Introduction to the Study of Literature.

— ६ —

# हिन्दी में समालोचना की शैलियां

जिस समय मनुष्य को विवेक दिया गया, उसी समय उसे समालोचक बना दिया गया और उसने तभी से समालोचना करना आरम्भ कर दिया। पहले उसने प्रकृति देखी, मनुष्यों को देखा—उनके हर्ष-विस्मय-सम्पन्न व्यापार देखे। उन व्यापारों में उसे विवेक हुआ। कुछ भले लगते हैं, कुछ बुरे। भले की वह प्रशंसा करने लगा, बुरे की निन्दा। यह भले बुरे का विवेक था उसकी प्रशंसा अथवा अप्रशंसा, उसकी समालोचना। और

जहां भी यह विवेक उपस्थित है—चाहे वह अविवेक ही क्यों न हो किन्तु यदि विवेक की भाँति आया है तो रूप कुछ भी हो काव्य, साहित्य, तर्क, नाटक, गद्य, चित्र, मूर्ति, स्थापत्य सब समालोचना है। केवल एक अपवाद है—वह यह कि इनमें सब कुछ नक़ल अथवा यथावत जैसे का तैसा वर्णनमात्र न हो। अन्यथा सारा का सारा साहित्य एक शब्द में एक विशद् समालोचना है। मैथ्यू आरनल्ड ने तो यथार्थ ही काव्य का जीवन की समालोचना कह डाला, और जब उसने यहां तक कह दिया कि एक दिन सारा दर्शन ही काव्य हो जायगा तो शेष रह क्या गया? और कला क्या है? जो कला को कला की ही अभिव्यक्ति मानता है, और उसे उसी के लिए समझता है, वह जब ऑस्कर वाइल्ड की भाँति कलाकार के विषय में यह कहता है कि वह जीवन के तथ्यों को स्वीकार करते हुए भी उन्हें सौन्दर्य की आकृतियों में ढालता है, उन्हें करुणा अथवा विस्मय को वहन करने वाला बनाता है, उनके रञ्जनानुस्पर्शों को प्रकट करता है और उनके रहस्य को भी; उनके सच्चे आचारार्थ को बतलाता है और उनमें स्वयं इस वास्तविकता से, प्रकृत से भी कहीं अधिक प्रकृत जगत की सृष्टि करता है—इससे कहीं उच्चतर और शील-सम्पन्न *। तो क्या वह कलाकार को समालोचक नहीं समझता? कला को उपयोगिता के दामन से बांधनेवाले भी जब यह कहते हैं कि उसमें ऐसा कुछ भी न हो जो अनुपयोगी

* Oscar Wilde: the Critic As Artist, pp-193

हो, वे क्या कवि में विवेक की अधिक से अधिक अपेक्षा नहीं समझते, तो समालोचना तो जन्म से मनुष्य के साथ है। जब तक वह मनुष्य है बिना धारणाएँ बनाये रह नहीं सकता और धारणाएँ सदा विवेक अथवा विवेक जैसे ही अविवेक पर आश्रित रहती हैं और वह समालोचना है।

इस प्रकार समालोचना विस्तृतार्थ में सभी को करनी पड़ती है—वह मानवजीवन में घुट्टी के साथ पिलायी गयी है। जिन महाकवियों और कलाकारों के नाम गिरिजाकुमार घोष* ने अपने लेख 'समालोचना' में गिनाये हैं और कहा है कि उन पर समालोचना का प्रभाव नहीं पड़ा, वह भी क्या ठीक है ? वाल्मीकिजी जब एक एक शब्द लिख रहे थे तो विचार पूर्वक ही लिख रहे थे। मनुष्य क्या स्वतः समालोचक नहीं ? उनकी रचना तत्कालीन क्षेत्र की विशद आलोचना है। क्या यह माना जा सकता है कि उन्होंने वह रचना यों ही बिना किसी प्रेरणा के कर डाली—और भी, सीधे शब्दों में, जो लोक-काव्य का सबसे पहला वाल्मीकि-रचित यह छन्द कहा जाता है:—

मा निषाद ! प्रतिष्ठांत्वमगमः शाश्वतीः समाः
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्

क्या यह व्याध के कृत्य की आलोचना नहीं ? साहित्य की रचनाएँ अभाव की पूर्ति के लिए होती रही हैं। जब तक कवि की

* द्वितीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की लेखमाला।

प्रखर प्रतिभा उस अभाव के रूप को ठीक ठीक विचार नहीं लेती तब तक कोई रचना हो नहीं सकती। ऐसा नहीं कि यह भारतीय वाङ्मय के लिए ही सत्य हो—विश्ववाङ्मय में भी यही बात है और विकास का अर्थ ही यह है। कवि शाश्वत से सम्बन्ध रखने वाली सच्ची स्थिति का जब ठीक पर्यवेक्षण करेगा तभी प्रतिभा को स्फूर्ति मिलेगी। कवि की कोई भी कल्पना अद्भुत और महत् इसीलिए है कि उसके पीछे उसी की तीव्रतर आलोचना काम कर रही है। प्रतिभा यदि समालोचना से मार्जित न होती तो सभी कवियों की कृतियां एक ही कोटि की होतीं। शेक्सपियर भी चौसर के युग में हुआ होता, तुलसीदास और सूर चन्दवरदाई के समय में होते और चन्दवरदाई रासो न लिखकर रामायण ही लिखता—वह रामायण भी तुलसीकृत क्यों होती वाल्मीकिकृत ही होती। किन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं। प्रतिभा का परिमार्जन भिन्न अवस्थाओं में भिन्न रचनाओं की आवश्यकता सुझाता है। कवि उसी प्रेरणा से नयी रचना करने बैठता है। किन्तु विवेक अथवा समालोचना का कार्य निर्णायक की भांति है। वह प्रस्तुत वस्तु का विश्लेषण करता है, उसके अन्तः रहस्य को देखता है और बतलाता है कि क्या क्या है और कैसे है, कहां तक है, और कितना है। वह प्रत्येक निर्मायक तन्तु से घनिष्ठ परिचय प्राप्त करता है, तभी वह अपना कार्य कर सकता है। विवेक निरपेक्ष नहीं। उसे एक माप की आवश्यकता है। वह किसी वस्तु का विश्लेषण क्यों करता है ?

माप को सामने प्रस्तुत कर उसे जानने के लिए—और यह माप बहुत ही महत्त्वपूर्ण वस्तु है। यही माप वह है जहाँ मनुष्य कलाकार हो जाता है। साहित्यिक शब्दों में चाहें तो हम इसे अनुभूति कह सकते हैं। यह अनुभूति हमारे आदर्श की भाँति है। वस्तुतः, जो यह है वही हम हैं। इस अनुभूति का निर्माण प्रत्येक मनुष्य में होना स्वाभाविक है। गोचर जगत की इन्द्रियों द्वारा उपस्थित की गयी सामग्री जब हमारे हृदय में पच जाती है, वहाँ एक रसायनिक परिवर्तन से एक नयी वस्तु बन जाती है। तभी वह अनुभूति हो पाती है। यह जिस प्रकार निर्मित होती है उसका हमें बोध नहीं होता किन्तु यह निश्चित है कि उसका रूप एक नया रूप हो जाता है और उसे ही हम अपना कहते हैं। यह उतना विभिन्न है जितने व्यक्ति विभिन्न होते हैं। रुचि इसी से बनती है। मनुष्य में मनुष्य होने के नाते ही एक मूल प्रकृति है। यही सभी प्रेरणाओं के मूल में व्याप्त है। हमारे विचार-विवेक, भाव, कल्पना सभी इसके द्वारा बनते और प्रेरित होते हैं—यही हमारे वाह्य जगत को अपने अनुकूल एक विशेष रूप में परिणत कर देती है। यह हमारी कला की माप बन जाती है। हमारी रुचियों की दिशा-निर्देशक बन जाती है। यही माप जिसकी जितनी उन्नत और स्वच्छ है उसका विवेक उतना ही युक्त और प्रभावशाली है। इसका निर्माण भी विवेक के द्वारा होता है और यह विवेक की फिर माप भी बन जाती है। बहुधा कोमल संस्कारों में पले हुए व्यक्ति के

पास यह प्रतिभा कोमल हाती है और कठोर में पलनेवालों की कठोर। इस वातावरण की छाप को सभी विचारकों ने अनुभव किया है। हम उस माप का नाम 'धृति' रखेंगे। 'धृति' जैसी है वैसी ही आलोचना और उसका आदर्श होगा।

इस धृति के कार्य में कई तत्त्व काम करते हैं—

१—मनुष्य की मूल-निधि—यह मूल-निधि वे मूल प्रवृत्तियां हो सकती हैं जो आदिकाल से मनुष्य में उतरती चली आयीं हैं, संस्कार की भांति; यह आत्मा का अपना प्रकाश हो सकती है, अथवा यह पूर्व-कर्म के संस्कारों की छाप हो सकती है। यह मूल-निधि कुछ कुछ रागात्मक आवेगों के अनुरूप होती है। इसमें स्रीत्व अधिक है। वस्तुएं आकर्षित होकर इसकी परिधि में आती हैं और अपना अस्तित्व खो बैठती हैं।

२—इन्द्रिय-व्यापार—इन्द्रियाँ अपने व्यापारों से जो गोचर जगत् से सम्पर्क और सम्बन्ध उपस्थित करती हैं उनका सहज और अबोध संस्पर्श ने मानस पर पड़ता है। उसका एक चित्र तो स्मृति में अङ्कित होता है—वह तो अलग रहा—किन्तु एक सूक्ष्म अंश जिसमें उस व्यापार का आकार विलुप्त हो जाता है केवल उसमें व्याप्त एक रससा मूलनिधि की ओर आकर्षित हो जाता है और धृति की परिधि में समा जाता है।

३—विवेक—प्रत्येक नये इन्द्रिय-व्यापारजन्य ज्ञान से स्मृति-संचित ज्ञान की तुलना द्वारा मानस में एक संघर्ष खड़ा होता है। यह संघर्ष विवेक ही खड़ा करता है और उस ज्ञान की परीक्षा होती है, आलोचना होती है। उस संघर्ष का सूक्ष्म रस भी मूलनिधि की ओर आकर्षित होता है और धृति में परिणत हो जाता है।

४—अनुभूति—उस विवेक संघर्ष से स्मृति-संचय अथवा ज्ञान-राशि की परीक्षा होती है। वहीं तुलना से यह भासित होता है कि उन उपलब्ध वस्तुओं में कुछ अभाव है, और वहीं मूलनिधि और उसकी बनी धृति से एक परामर्श की भाँति नयी कल्पना का प्रकाश मिलता है। वह अनुभूति बनकर धृति मे आकर्षित होकर मिल जाता है।

इन अन्तः तत्वों की सहायता के लिए निरीक्षण, पर्यवेक्षण, अनुभव, अध्ययन और शिक्षा तत्पर रहते हैं।

इन सब के साथ एक और तत्व है—'उत्तराधिकरण'। यह पूर्व धृतियों का परिणाम होता है। उसके बहुत से विश्वास, उसकी बहुत सी धारणाएँ परम्परागत अथवा उसकी अपनी होती हुई भी रूढ़ होती हैं। वह उन्हें सहज ही स्वीकार कर लेता है। इसके साथ सब से भीषण बात यह होती है कि ऐसी धारणाएँ धर्मानुप्राणित सी हो जाती हैं और उनके विरुद्ध कुछ भी कहना हमें असह्य हो उठता है; यह उत्तराधिकरण निश्चय

हमारे मानसिक क्षितिज को संकुचित कर देता है, और इसके कारण हम सत्य से दूर पड़ जाते हैं। इस उत्तराधिकरण से धृति शुद्ध धृति नहीं रहती, विकृत हो जाती है। और, इस अधिकरण के स्वभाव से ही यह दीख रहा है कि वह स्वतंत्रता को अपहरण करने वाला है। स्वतंत्र विवेक इससे कुण्ठित हो जाता है। जिसकी धृति में इस उत्तराधिकरण का जितना ही अधिक अँश होता है उतना ही वह मौलिकता शून्य होता चला जाता है जो थोड़ी बहुत मौलिकता रह जाती है वह 'शैली' मात्र की होती है। विषय सम्बन्धी नहीं।

धृति की इस विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि धृति बनती रहती और बिगड़ती रहती है। बिगड़ने में सबसे अधिक हाथ उत्तराधिकरण का होता है, यों तो मूलनिधि अन्ततः इन सबके लिए उत्तरदायी ठहरायी जा सकती है। इस दृष्टि से धृति में विकास भी होता रहता है। आलोचना को इसी माप पर उसका ऊँचा और नीचा होना निर्भर करता है। काव्य जीवन की आलोचना इसी कारण है कि जीवन के सम्बन्ध में इस धृति का जो विश्व-व्यापक रूप प्रतिष्ठित होता है वह कहाँ तक और कहाँ अभिव्यक्त हुआ है? और काव्य की समालोचना में जो धृति उपस्थित होती है वह उस काव्य की धृति की परख करती है। इस परख को ही समालोचना कहा जाता है।

देखना यह है कि हमारे हिन्दी के समालोचकों की धृति

कैसी रही है। धृति में अनुभूति का जो परामश होता है वह आदर्श कहलाता है। जहां उत्तराधिकरण की मात्रा अधिक होती है वहां यह अनुभूति कम होती है। उत्तराधिकरण के अनुकूल ही मनुष्यके विवेक की कसौटीका आदर्श बन जाता है। हिन्दी साहित्य के विभिन्न युगों में ये आदर्श भी विभिन्न रहे हैं। इसके साथ ही इन आदर्शों को व्यक्त करने का साधन भी एक प्रथक वस्तु है। इस साधन का महत्व कम नहीं किया जा सकता—इसे हम शैली कहते हैं। यह उस धृति की ही अभिव्यक्ति का उपक्रम होता है—उसको प्रस्तुत करने वाला पात्र होता है। यह धृति और समय के अनुकूल परिवर्तित होता रहता है। किन्तु यहां विवेक के सम्बन्ध सें कुछ और भी जान लेना चाहिए। वह समालोचना के लिए अत्यन्त आवश्यक है। विवेक का काम यह है कि वह दी हुई सामग्री की चीड़-फाड़ करता है, उसका विश्लेषण करता है, संश्लेषण भी करता है। धृति तो कसौटी का काम करती है, कसने वाला विवेक है। जितना ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदन करने की शक्ति विवेक में होगी उतनी गहरी और सत्य समालोचना हो सकेगी। विवेक जैसे जैसे वस्तु के अन्तर में प्रवेश करेगा वैसे वैसे वह उस वस्तु के निर्मायक तत्वों का वस्तुतः पारस्परिक सम्बन्ध, उनका सामञ्जस्य और समन्वय उपस्थित करेगा। संक्षेप में, वह वस्तु का व्याख्याकर्ता होगा। जैसे जैसे वह धृति में प्रवेश करेगा वह 'सत्य-शिव-सुन्दर' को देखेगा और उस वस्तु में उसी के अनुकूल प्रशंसा अथवा

अप्रशंसा के तत्व देखेगा। जब वस्तु का विश्लेपण करेगा और उसके प्रत्येक निर्मायक तन्तु को देखकर उसके वहां होने की समस्या पर विचार करेगा तो वह लेखक की धृति के रूप को परखेगा। उसे उसी धृति में लेखक की रचना के विभिन्न तन्तुओं की व्याख्या मिलेगी।

विवेक के इन व्यापारों को हम साधारण भाषा में (१) विश्लेपण, (२) आदर्शान्वेपण, (३) व्याख्या कहते हैं। जिस प्रकार सबकी धृति एक सी नहीं होती उसी प्रकार सबका विवेक भी एकसा नहीं होता। धृति और विवेक दोनों में ही कुछ कुछ विकास मिलता है और गति तो सदा ही मिलती है।

धृति का पूर्व रूप जहां संस्कारों, इन्द्रिय-व्यापारों और उत्तराधिकरणों से लदा होता है—वह केवल मति कहलाता है। 'मति' का सीधा अर्थ वह धृति है जिसमें विवेक अन्तर-प्रवेश न कर सके, केवल उसका सम्मिलित प्रभाव उस विवेक पर पड़े। धृति में जब स्वयं कोई अन्तर-चेतना ( विवेक ) न हो कि वह अपने रूप और तन्तुओं को स्वयं भली प्रकार समझ सके, तो इस अवस्था में विवेक भी कुण्ठितसा रहता है। धृति असंस्कृत कहलाती है और विवेक कुण्ठित। जब ये दोनों समालोचना करने बैठते हैं तो केवल इतना ही कहते हैं कि यह अच्छा है, यह बुरा है। क्यों अच्छा और क्यों बुरा है इसका कोई कारण उपस्थित नहीं किया जाता, और यदि कारण उपस्थित किया भी

जाता है तो वह वस्तु का अन्तर-कारण नहीं होता, उसके बाह्य-व्यापारों पर निर्भर करता है। किन्तु इससे भी पूर्व एक और अवस्था होती है—और वह "परिचय" कहलाती है। 'परिचय' की अवस्था में केवल विवेक को काम करना पड़ता है और वह विवेक कुण्ठित होता है। केवल मन में इन्द्रिय-व्यापार द्वारा पहुंचे रूप भरको आलस्य से उपस्थित कर देना ही विवेक का पूर्वावस्था में काम होता है।

हिन्दी में समालोचना का आरम्भ भी भारतेन्दुजी के समय से हुआ मिलता है। उस काल की समालोचना के कुछ उदाहरण देखने होंगे।

(१) मधुमुकुल—श्री बाबू हरिश्चन्द्र कृत होली के पदों का संग्रह। इसकी समालोचना हम और क्या लिखें। केवल इतना कहना बस है कि यह बाबू हरिश्चन्द्र की कविता है। हमारे रसिक पाठक जन इतने से ही जान लेंगे कि यह छोटीसी पुस्तक कैसी रस की खान होगी।

"पदबन्धोज्वलोह कृत वर्ण क्रमस्थितिः।
भट्टार हरिश्चन्द्रस्य पद्यबन्धो नृपायते॥" हिन्दी प्रदीप,
मार्च १८८१

(२) रामलीला नाटक—"पंडित दामोदर शास्त्री कृत। हमारे देश के निरक्षर धनी तथा इतर लोगों की समाज प्रति वर्ष

रामलीला में हजारों बिलटा देती है। पर सिवा बेहूदा हू-हा के कोई वास्तविक फ़ायदा उससे कभी देखने में नहीं आया। शास्त्रीजी की यह पुस्तक रामलीला करने वालों के लिए बहुत ही उत्तम है। कैसा अच्छा सभ्य समाज का प्रमोद हो सकता है, यदि हमारे अनपढ़ भाइयों की रुचि इस बेहूदा हू-हा से बदल कर इसे नाटक के आकार में करने को हो जाती। सो काहे को कभी होना है, खैर तो भी यह पुस्तक पढ़ने में बहुत उत्तम और खड्ग विलास प्रेस, बांकीपुर में छपी है।" हिन्दी प्रदीप, अप्रैल १८८२

( ३ ) **मुद्राराक्षस**—" विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अनुवाद, बाबू हरिश्चन्द्र रचित, राजनीति की काट-छांट दिखलाने को यह नाटक एक ही है। हिन्दुस्तान के अद्वितीय (Politician) राजनीतिज्ञ चाणक्य की राजनीति कौशल का सब मर्म इस दृश्य काव्य के द्वारा साङ्गोपाङ्ग पूरी तरह पर प्रगट किया गया है। बाबू साहब ने बड़े परिश्रम से भाषा भी ऐसी उत्तम और संस्कृत से जिसका यह अनुवाद है इतनी मिलती हुई लिखी है कि कदाचित दूसरे किसी से असम्भव था। इस नाटक का विषय ( Plot ) इतना कठिन और उबियाऊ है कि किसी नौसिखिया भाषा लेखक कृत अनुवाद होता तो और भी साधारण पाठकों को अरोचक और नीरस जँचता, सिवा अनुवाद के इसकी पूर्व पीठिका और (Footnote) टिप्पणी में

ऐसी ऐसी बातें लिख दी गई हैं जो (Antiquarian) पुरावृत्त जानने वालों की ज्ञान का निचोड़ है।"

हिन्दी प्रदीप, अप्रैल, १८८३

(४) "तीन ऐतिहासिक रूपक-सिन्धु देश की राजकुमारी गुन्नौर को रानी लवजी का स्वप्न, सिरसा निवासी बाबू काशी-नाथ कृत; कामातुर हो मनुष्य कैसा विवेक शून्य हो जाता है यह बात बड़ी उमदा तरह पर पहले दो कथानक में प्रगट की गई है और मुसलमान बादशाहों के अत्याचार के मुकाबले हमारे प्राचीन आर्य वंशी राजा कैसे धर्मिष्ठ और प्रजा-वत्सल थे यह लव के स्वप्न में अच्छी तरह पर दर्शाया गया है।"

हिन्दी प्रदीप, मार्च, १८८४

प्रथम उद्धरण में समालोचक ने रचना के विषय में कुछ भी नहीं कहा। कृतिकार का परिचय भी नहीं दिया गया। उस कृतिकार को सब जानते हैं। उनकी रचनाएं सबको पसंद हैं, अतः यह भी आयेगी—इसी आधार पर यह परिचय दिया गया है। दूसरे उद्धरण में भी ग्रन्थ के विषय में केवल इतना ही कहा गया है, "तौभी यह पुस्तक पढ़ने में बहुत उत्तम है"। इस पुस्तक की आलोचना को उन्होंने प्रचलित रामलीला प्रणाली की आलोचना का अवसर बना लिया। यह आलोचना कृति की नहीं, कृति से संबन्ध रखने वाली एक अन्य वस्तु की है। लेखक को अवसर मिल गया तो वह कृति को भूल बैठा और दूसरी

बात पर लिखने लगा। यहां तक तो पुस्तकों का जो परिचय दिया गया है, वह परिचय भी नहीं कहा जा सकता। लेखक अपने मनोभावों का शिकार है। उसके मस्तिष्क में कुछ बहुत ही प्रमुख विचार बने हुए हैं और वह कृति पर अपने विचार उपस्थित करने की अपेक्षा उन पर विचार करने का प्रलोभन संवरण नहीं कर सकता। संयम का अभाव है।

तीसरे उद्धरण में रचना का मूर्त्त अभिप्राय मात्र लिख दिया गया है। भाषा की प्रशंसा की गयी है। निस्संदेह लेखक ने अपने को कृति तक ही रखा है। यही बात चौथे उद्धरण से भी प्रगट है। अन्तिम दो वर्षों में निश्चय ही पूर्व दो से उन्नति और संयम है। और इन अन्तिम दो को हम 'परिचय की झलक' समझ सकते हैं, क्योंकि वस्तुतः पूर्ण परिचय यह भी नहीं है, अभिप्राय-मात्र है। सारे कथानक की संक्षिप्ति दो शब्दों में दी गयी है। आज के परिचयों से भी जब हम इन परिचयों की तुलना करते हैं तो यह विदित होता है कि मूलतत्व तो दोनों में एक ही हैं, एक में वह पूर्वावस्था में हैं, दूसरे में विकसित।

आज भी हमें सभी बात १८८३-४ की परिचय-पंक्तियों सी लगती हैं—केवल इतनी विशेषता प्रतीत होती है कि लेखक अधिक विस्तृत परिचय देने का यत्न करता है। वस्तुतः परिचय तो परिचय ही है। लेखक वस्तु का बिना ठीक विश्लेषण किये कुछ लिख देना भर पर्याप्त समझता है।

किन्तु अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के लेखकों की स्थिति का ठीक ज्ञान होना चाहिए। हिन्दी में अब तक आरम्भ काल से जो कुछ लिखा गया था वह सब भावाभिव्यक्ति थी और इसका अधिकांश पद्य में था। जिस प्रकार और बहुत सी बातें नवयुग की देन है, समालोचना तथा परिचय भी उसी प्रकार नयी वस्तु थी। हिन्दी के लेखक जब भी किसी नयी प्रथा को देखते तो उसे संस्कृत में भी टटोलते थे। इसी काल में स्वामी दयानन्दजी पैदा हुए और राष्ट्रीय भाव भी जाग्रत हो गये थे। इन सभी ने भारतीय लेखकों में 'अपनत्व' को बनाने की चेष्टा भर दी थी। आलोचना को अपना बनाये रखने के लिए उन्हें संस्कृत की शरण लेनी पड़ती थी। संस्कृत के अन्तिम काल में समालोचना की शैली पांडित्यवादी हो गयी थी। पांडित्यवादी शैली में समालोचक शास्त्राचार्यों के निष्कर्षों को स्वीकार कर रचनाओं को उनसे ही परखता है, वह अपने आपको किसी स्वतंत्र विचार के योग्य नहीं समझता और यह स्वतंत्र-मनीषिता वह शास्त्राचार्यों के लिए छोड़ देता है। शास्त्राचार्यों में हम निश्चय ही स्वतंत्र मनस्विता पाते हैं। उन्होने निश्चय ही तर्क और वर्ग से किसी उपपाद्य विषय की मीमांसा की और अपना मत दिया। विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' से इन शास्त्राचार्यों का अभाव सा हो हो गया। उस काल के समालोचकों में यही शैली मिलती है। नये युग की नयी धारणाओं को वे अभी ग्रहण नहीं कर रहे थे। और जब वे प्राचीन पाण्डित्यवादी परिपाटी से देखते थे तो

तत्कालीन हिन्दी के लेखकों में बड़ा अभाव मिलता था। ऐसी अवस्था में उन्हें केवल अपनी 'मति' के भरोसे रहना पड़ता था। 'मति' केवल दो काम कर सकती है प्रशंसा अथवा निन्दा, और जब तक व्यक्ति चेतन-मति नहीं हो जाता उसकी धृतिका रूप उपस्थित नहीं होता। ऐसी अवस्था में प्रशंसा अथवा अप्रशंसाका साम्राज्य बहुत काल तक बना रहता है।

और लेखक को यह भय सदा रहता है कि प्रशंसा करने से वह सम्भवतः अपना सब कुछ खोये दे रहा है। प्रशंसा में समालोचक और कृतिकार एक हो जाते हैं, कृतिकार का मूल्य अधिक होता है। अतः समालोचक का मूल्य प्रशंसा करने में कृतिकार में विसर्जित हो जाता है। समालोचक प्रशंसा की अपेक्षा निंदा को अधिक चाहता है—उसमें उसे यह सन्तोष रहता है कि अपनत्व की रक्षा कर सका है और लेखक अथवा कृतिकार से ऊँचा है—यह विचार उसके गर्व को भी सन्तुष्ट करता है। फिर समालोचनायें यदि कटु हो जायं तो स्वाभाविक ही होगा। इस काल में यह प्रवृत्ति विशेष परिलक्षित होती है।

उस काल के विविध व्यक्तियों ने समालोचना की इस कटुता की भर्त्सना * की; समालोचकों को निन्दक शब्द द्वारा भी संबोधन किया।

---

* हिन्दी प्रदीप, १६०६ सितम्बर-पं० लोचनप्रसादः समालोचक; हिन्दी प्रदीपः अनन्तराम पांडे।

इस प्रकार के विचार-संचयों से निश्चय ही समालोचकों की प्रवृत्ति में संशोधन हुआ होगा और ऐसा संशोधन एक पग ही बढ़ेगा। अब तक तो निज मतिमात्र को प्रकट कर दिया जाता था। वह केवल निन्दा-भरसी हो जाती थी। यह देखकर कि ऐसा करने वाला हेय समझा जाता है, उन्होंने प्रशंसा करना भी आरम्भ किया, किन्तु वह प्रशंसा होती थी निन्दा करने के लिए। उन्होंने तुलना को अपनी कसौटी बनाया। जिस कवि अथवा लेखक की प्रशंसा करनी हुई उसको आकाश तक पहुँचा दिया, और इसके लिए साधन समझा गया दूसरे कवियों को नीचा दिखाना। दूसरे कवियों को हेय सिद्ध करना वह भी सीधी तुलना द्वारा कुछ कुछ इस प्रकार:—

स्वारथ, सुकृत न, श्रमु वृथा, देखि विहंग विचारि।
बाज पराये पानि परि, तू पंछीनु न मारि॥

इस दोहे में—

आयासः परहिंसा वैतसिक सारमेय तव सारः।
त्वामपसार्य विभाज्यः कुरङ्ग एषोऽधुनै बान्यैः॥ आर्या का भाव दिखायी दे रहा है। आर्या में चमत्कार है परन्तु सारमेय के स्थान पर बाज को रखकर विहारी ने नीलम पर धूप बरसा दी है!—यहाँ तक भी धृति मति बनी हुई है। केवल, मति में भावुकता का प्रवेश हमें दीखता है। एक कवि प्रिय लग गया सो लग गया। पहले वह कवि प्रिय लगा, फिर यह

प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्यों अच्छा लग गया ? अपनी इस मति की पुष्टि के लिए एक तो 'उत्तराधिकरण' सहायक होता था दूसरी भावुकता। अपनी 'मति' की पुष्टि में कहा जाता था 'चन्द्रालोक' और साहित्य दर्पण में ऐसा विधान है। इसमें ऊँची कोटि के अलंकार आये हैं—और कैसा मार्मिक चमत्कार है। किन्तु इन सब का आधार तुलना थी। तुलना की जाती थी एक को ऊँचा सिद्ध करने के लिए और उसकी व्याख्या की जाती थी अपने अनुकूल उसमें शास्त्रीय पाण्डित्य ढूँढ कर और मार्मिक स्थलों को उत्तेजक शब्दों में उपस्थित करके। ये समालोचनाएँ प्राचीन कवियों पर विशेष होती थीं। जीवित ग्रन्थकारों पर कुछ लिखना सम्भव नहीं हो सकता था। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने तब यह लिख ही दिया था कि जीवितावस्था में लेखक के ग्रंथों की यथार्थ समालोचना नहीं हो सकती।

निन्दात्मक शैली की प्रतिक्रिया उग्र हो उठी थी। धर्मभावारूढ़ हिन्दी के विद्वान किसी प्राचीन के पूज्यरूप को जर्जरित होते नहीं देख सकते थे। ऐसी अवस्था में निन्दा को अंकुश लग गया। वह रूप बदलने लगी। किन्तु प्रशंसा जी खोलकर की जा सकती थी। पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने जिस प्रेरणा से बिहारी-सतसई की भूमिका लिखी वह वस्तुतः उनके 'सतसई-संहार' शीर्षक से स्पष्ट प्रकट होता है। इस काल में कोई देव का पक्ष ग्रहण करने लगा, कोई बिहारी का। सबकी कसौटी वही मति

थी जिसने अपनी व्याख्या का आधार तुलना रखा था। इस तुलना को पुष्ट करने के लिए शास्त्र की दुहाई और भावुकता के पुट का आश्रय लिया गया और जैसा कहा जा चुका है एक की प्रशंसा, क्योंकि केवल मत्याश्रित थी, स्वभावतः ही दूसरे की निन्दा थी। ऐसी अवस्था में ही वितण्डावाद खड़े हुए। यहीं खंडन-मंडन का प्रादुर्भाव हिन्दी संसार के समालोचना क्षेत्र में हुआ। खंडन-मंडन न्यायाधिकरण से लिए हुए शीर्षक हैं। कवि की कृति का खंडन और मंडन हो ही नहीं सकता। कवि ने जो प्रकट किया है वह शाश्वत है। खंडन अथवा मंडन के लिए पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष की कल्पना आवश्यक है। कवि का निजी कोई पक्ष नहीं होता। वह तर्क उपस्थित नहीं करता। उसका खंडन नहीं हो सकता। उसके संबंध में कोई दूसरा कुछ कहे और अन्य दूसरा उससे सहमत न हो तो दोनों पक्ष उपस्थित हो गये और तभी खंडन-मंडन हो सकता है। जब समालोचक अपने अन्दर भी इन दो विभागों में विभाजित हो जाता है तब भी उसे उत्तरपक्ष को अपना बनाना पड़ता है। ऐसी अवस्था में वह समालोचना नहीं रह जाती—वह खंडन-मंडन ही कहा जा सकता है। इस क्रिया में या तो लेखक की मति प्रधान होती है, या उत्तराधिकरण। धृति का रूप धुँधला धुँधला रहता है। इन समालोचनाओं को भी अधिक नहीं सहा जासकता। सभी इस प्रकार के विवादों में पड़ने की सहिष्णुता भी नहीं रख सकते। यही बात हिन्दी में हुई। अब तो हिन्दी का युग भी पलट चुका

था। वह ऊँची कक्षाओं में शिक्षा में विश्वविद्यालयों में पाठ्य-विषय बना दी गयी थी। तुलसी-सूर-बिहारी-भूषण जैसे कवि पाठ्य-विषयों में सम्मिलित थे। विद्यार्थियों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे जानेंगे कि वह कवि क्या है? यही अध्ययन था। प्रोफेसरों को और विद्यार्थियों को यह कठिनाई थी कि क्या पढ़ाया जाय? पद्यों के अर्थ भर कर देना तो पर्याप्त न था। अब उन्हें उस वस्तु का विश्लेषण करना पड़ा। ये विद्यार्थी और प्रोफेसर अंग्रेजी पढ़े लिखे होते थे। उन्हें कोई बात केवल इस-लिए ऊँची नहीं लगती थी कि वह साहित्यदर्पण में दिए हुए नियमों के अनुकूल थी। वे सूत्रों से काम नहीं कर सकते थे। प्रत्येक बात की युक्तिसंगत व्याख्या होनी चाहिये। अलंकार और रस भी नये ढंग से उपस्थित किए जाने चाहिए। नयी वैज्ञा-निक प्रणाली का अनुसरण होना चाहिये।—सबका रहस्य था अध्ययन, वह अध्ययन जो समालोचना की अपेक्षा परिचय भर ही था। इन अध्ययन-कर्त्ताओं ने कसौटी को अभी हाथ नहीं लगाया। पहले वस्तु को समझा। मिश्रबन्धुओं ने जो कुछ भी कवियों पर लिखा वह मिश्रबन्धु विनोद में भी और नवरत्न में भी परिचय मात्र ही था। "उन कवियों में यह है"—बस यही उनका मूल मंत्र रहा। मति अब भी थी, विवेक का उदय भी कुछ हुआ, उत्तराधिकरण भी रहा तो पर शिथिल हो चला। अंग्रेजी-शिक्षा ने उसका मूल्य बहुत कम कर दिया था। काशी के प्रोफेसरों को भी विद्यार्थियों को पढ़ाते-पढ़ाते अपनी सहायता

और विद्यार्थियों के लाभार्थ कुछ लिखना पड़ा । इस स्कूल में मति का सर्वथा लोप हो गया। मति के लोप हो जाने से सब कुछ युक्तियों पर निर्भर करने लगा, किन्तु उत्तराधिकरण न छूटा। उस उत्तराधिकरण के लिए युक्तियां अवश्य उपस्थित की गयीं। वे युक्तियां क्षेत्र, और परिस्थितियों के अध्ययन पर निर्भर करती थीं। साहित्य का इतिहास समालोचक का साथी बना। इसी उत्तराधिकरण के कारण इस कोटि की समालोचनाओं में भी अवाञ्छनीय बातें आ घुसीं। उन्होंने एक स्थिति को देख कर उसे अपने अनुकूल तर्कों से सहायक अथवा विरोधक की भांति उपस्थित कर दिया। उदाहरण के लिए इस शाखा के ऐतिहासिक निष्कर्षों को लिया जा सकता है। भक्ति-काव्य के प्रादुर्भाव के कारण के लिए उन्होंने जो इतिहास का निष्कर्ष उपस्थित किया है वह यही है कि जनता निराश हो गई थी मुस्लिम अत्याचारों से। किन्तु यह इतिहास को अपने अनुकूल करने का उद्योग है। उत्तरी-भारत में सामूहिक मानसिक अवस्थिति को भ्रम से कुछ और समझ लिया गया है और उसे भक्ति-मार्ग की ओर आकर्षित होने का कारण बतलाया गया है। भक्ति-मार्ग का पुनरुत्थान, सभी जानते हैं, दक्षिण में हुआ था—वहां जहां कि मुस्लिम संघर्ष का नाम भी न था। उसका उदय हुआ था उस तत्कालीन धार्मिक अवसाद का प्रतिकार करने के लिये, जो समाज में ऐसा व्याप्त हो गया था कि कई वर्ग विशेषों को मोक्षाधिकारी न मानता था। वह बाहरी धर्म और सभ्यता का परिणाम न था वह तो भारत

के अन्तर-संघर्ष का ही परिणाम था। जनता मुस्लिम संघर्ष से हताश नहीं थी, वह स्वयं अपने से ही हताश थी। मुसलमानों के सम्पर्क ने तो बस एक तीव्रता मात्र प्रदान की।

इस वर्ग के समालोचकों ने देखा कि सूर के बाद आगे चल कर राधा और कृष्ण केवल नायक और नायिका मात्र रह गये। राधा-कृष्ण के अनुयायी भक्तों ने राधाकृष्ण का वर्णन अत्यन्त ही राग-रञ्जित किया था। उनकी काम-क्रीड़ा तक मुग्ध होकर, भक्तिभाव से परिपूर्ण होकर दिखायी गयी थी। इस वर्ग के समालोचकों ने उत्तराधिकरण से प्रेरित हो त्वरा में कह दिया कि इन्हीं भक्त कवियों की रचनाओं का आगे चल कर ह्रास हुआ और राधा-कृष्ण इन भक्तों के हाथ में, जिस इष्ट स्थान पर आसीन थे, उतर कर अनिष्ट क्षेत्र में चले गये। किन्तु इतिहास का गम्भीर अध्ययन करने वाले जानते हैं कि आरम्भ से ही हिन्दी में राधा-कृष्ण सम्बन्धी दो धारायें चलीं। जिस समय सूर तथा अन्य अष्टछाप के कवियों ने राधा-कृष्ण को इष्टदेव की भांति भक्ति से अर्चित किया, उसी समय केशवदास जी ने राजसी परिस्थितियों में रहकर रसिकप्रिया में उन्हें नायक-नायिका की भांति रखा। उत्तर काल के वे सभी कवि जिन्होंने राधा-कृष्ण को इस रूप में ग्रहण किया भी केशव की शाखा के थे। सूर आदि भक्त-कवियों की शाखा के नहीं थे। केशव की भांति प्राय: वे सभी राज्याश्रय ताकने वाले थे। केशव की भांति सभी कवित्त-सवैयों की शैली वाले कवि थे—भक्तों की

भांति पद-शैली वाले नहीं। केशव की भांति सभी आचार्यत्व अथवा पांडित्य प्रदर्शन करने का चाव रखते थे। अलंकार-शास्त्र और रस-शास्त्र पर ऐसे सभी कवियों ने प्रायः लिखा। इन स्पष्ट प्रमाणों से यह कहा जा सकता है कि सूर आदि भक्त कवियों की रचनाओं का वह परिणाम कदापि न था जो समझ लिया गया। इसी प्रकार और भी उत्तराधिकरण-संकोच हमें इस वर्ग में दिखायी पड़ता है। इनको कुछ पक्षपात हो गया—यथा तुलसी को सर्वश्रेष्ठ समझना, रहस्यवाद को हेय समझना और वस्तुतः आगे चलकर इस वर्ग के समालोचकों में अनुदार मति भी आ गयी, उस अवस्था में इनकी धृति में जो चेतना जागृत हुई थी वह बस एक सीमा तक जाकर रुक गयी। आक्षेप और व्यङ्ग इनमें भी रहा किन्तु व्यष्टि के प्रति नहीं जैसा इनसे पूर्व था वरन् समष्टि के प्रति। व्यष्टि को व्यापक करके लिखा जाने लगा। लिखना है पन्त-निराला आदि के विरुद्ध किन्तु इनके व्यक्ति को सामने न रखा गया। समूचे रहस्यवाद के विरुद्ध लिखा गया और जहाँ भी अवसर मिला इन पर आक्रमण किए बिना न चूके। शुक्लजी की 'तुलसीदास' नाम को पुस्तक देखी जा सकती है। उसमें ऊपर जैसे ऐतिहासिक भ्रम भी मिलेंगे और रहस्यवाद, समाजवाद, सोशलिज्म तथा सूर आदि पर अयाचित वक्तव्य दिये हुए मिलेंगे। यह मति का परिणाम नहीं यह 'धारणा' का फल है। लेखक अपने पक्ष को सकारण और सहेतुक रख सकता है, विचार के बाद ही उसने अपनी धारणा

बनायी है। यद्यपि मूलनिधि और उत्तराधिकरण की प्रबलता के कारण उनकी धारणा ने अपने कारणों और हेतुओं के लिए अपने से ही तत्व स्वीकृत कर लिए हैं। निस्संदेह इन समालोचनाओं में भी उन्नत मनीषिता नहीं। उदारता है किन्तु व्यवहार मात्र की।

और सीधे शब्दों में यह समालोचना स्थूल वस्तु तक ही रह सकी। अपनी व्याख्या के शब्दों में घृति में मूल-निधि, इन्द्रिय-व्यापार, विवेक और उत्तराधिकरण ही है शरीर की चीड़-फाड़ करने वाले सर्जन की भांति ही इन्होंने काव्य के क़लेवर का अंतर्विश्लेषण और अन्तर्ज्ञान प्राप्त किया। उससे भी आगे जहाँ काव्य-काव्य है जिसको जानते ही उस काव्य कलेवर का सौन्दर्य ही दूसरा हो जाता है, वहाँ तक समालोचना अभी न जा सकी, उसका उत्तराधिकरण बाधक था। यह पर्दे की भांति आत्म-दर्शन की बाधा सा बनकर खड़ा रहा। तुलसी ने शील-शक्ति-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की, सूर ने कोमलता, सरसता उपस्थित की। इससे आगे भी उनका काव्य कुछ और है। वह काव्य का आत्म-दर्शन, कुछ अपूर्ण शब्दों में कहें तो उसकी कला का संश्लिष्ट सौन्दर्य, अभी समालोचक नहीं समझ सका। अभी वह अपने आदर्श से नीचे है। प्रयास हो रहे हैं। कहीं कहीं कुछ मिल जाता है किन्तु अभी तक समालोचनाकाश में सूर्य का खर प्रकास नहीं मिलता।

सहायक तथा पठनीय पुस्तकें—

हिन्दी—हिन्दी-गद्य-शैली का विकास ( ना० प्र० सभा काशी ); श्यामसुन्दरदास : साहित्यालोचन; द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की लेखमाला; पं० पद्मसिंह शर्मा: बिहारी-सतसई की भूमिका; पं० कृष्णविहारी मिश्र : देव और बिहारी; ला० भगवानदीन : बिहारी और देव ।—संन्याल : समालोचना तत्व; पं०सूर्यकान्त : हिन्दी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास; शुक्ल : रहस्यवाद, शुक्ल : तुलसीदास; शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास; मिश्र बंधु : मिश्र बंधु विनोद; मिश्र बन्धु : हिन्दी-नवरत्न; मिश्रबंधु : देव-सुधा; शुक्ल : जायसीग्रन्थावली; नगेन्द्र : सुमित्रानन्दन पन्त; सत्येन्द्र : गुप्त जी की कला; गुलाबराय : हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास; महेन्द्र : प्रसाद जी की कला ।

मासिक-पत्र—साहित्य-सन्देश ( आगरा )

अंग्रेज़ी—Ooscar Wilde : Intention; Hudson: An Introduction to the Study of Literature; Mathew Arnold : Wordsworth.

— ६ —

# 'अष्टछाप'

वास्तविक साहित्य की सृष्टि उन्नतमना प्रतिभाओं के द्वारा ही होती है। किसी कवि का अध्ययन करते ही हमें इस प्रतिभा का प्रकाश मिलता है। जहाँ वातावरण में स्वच्छन्दता नहीं वहाँ कवि नहीं पनप सकता। और ऐसा कवि जो युगान्तर उपस्थित करने वाला हो, वह तो कभी भी नहीं पनप सकता। किसी के इशारे से काव्य-रचना करने वाले कभी उस आदर के पात्र नहीं हो सकते, जो सूर और तुलसी को मिला है। शेक्सपीयर मीठी और कड़वी

समालोचनाओं के होते हुए भी आज तक संसार को प्रभावित किये हुए हैं। अँग्रेजों के जीवन में शेक्सपीयर और बाइबिल में से किसका अधिक प्रभाव है, इसे कौन ठीक-ठीक बता सकता है। धार्मिक प्रवृत्तियों में परिवर्तन हो जाने अथवा क्रांति उपस्थित हो जाने पर बाइबिल का महत्त्व घट अथवा बढ़ सकता है। किन्तु मानव स्वभाव में जब तक मानवीय स्वभाव रहेगा शेक्सपीयर कभी अरुचिकर नहीं हो सकता। अपनी इतनी नवीनताओं के साथ भी यह नया युग कोई ऐसा साहित्य नहीं रच सका जो शेक्सपीयर को स्थानच्युत कर सके।

सारी भौतिक समृद्धि और वैभव से ऊपर वह कवि है जो स्वतः अमर होकर जातीय चेतना और जातीयता को भी सुरक्षित रख सकता है। ऐसा कवि समय के प्रभाव से साधारण रूप से अछूता रहता है। समय का रंग भी सब काल की वस्तु होकर उपस्थित होता है। अतः सामयिकता भविष्य का इतिहास बन कर और भूत की दिव्य-कल्पना बन कर काव्य में प्रवेश पाती है।

तुलसीदास के रावण में हम मुसलमानी शासकों को देख सकते हैं। संतों को कष्ट देने, उनके भाग छीन लेने में हम हिन्दुओं की तत्कालीन दयनीय दशा को पढ़ सकते हैं। 'भगति, भूमि, भूसुर, सुरभि, सुर हित लागि कृपाल', मुसलमानों के अत्याचारों से कौन पीड़ित न था? भक्तों को अपनी चिन्ता थी।

उनकी आराधना का साकार स्वरूप भीषण गदाओं से छिन्न-भिन्न होकर जीवन को संकटापन्न बना रहा था। रोज रोज के राज-परिवर्तन, राज-कलह, युद्ध-निमन्त्रण से भूमि की दुर्दशा थी। उसमें धान्य और शस्य पैदा करने का अवसर ही न था।

प्रजा के लोग मन्थरा की भाँति यह विचारने लगे थे—

कोउ नृप होइ हमहिं का हानी

ब्राह्मणों की आर्तकथा कौन कहे? उनकी पाठशालाएँ नष्ट-भ्रष्ट कर दी गयीं। चोरों की भाँति अपने घर ही में उन्हें अपना अध्ययन-अध्यापन करना पड़ता था। गायों की भी कहाँ कुशल थी? देवताओं के लुप्त होने का भय था।

पीरा, पयगंवरा दिगंवरा दिखाई देत,

इसमें अतिशयोक्ति को कितना स्थान है? इन सब पंक्तियों में समय का दर्शन है। किन्तु यह शाश्वत की वस्तु हो कर आया है। कवि किसी भी वस्तु को सामयिक महत्त्व अथवा किसी प्रेरणामात्र से ग्रहण नहीं करता। फिर मुसलमानी काल के वैष्णवों का वातावरण ही और प्रकार का था। उनसे ऐसी कभी आशंका नहीं की जा सकती कि वे कभी किसी के इशारे पर नाचेंगे। फिर विधर्मियों के इशारे पर तो नाचना उन्हें एक दम असह्य था।

इतिहास को ठीक न समझ सकने वाले को भ्रम का बहुत अवकाश रहता है। अनेक बातें ऐसी हैं जिनके सम्बन्ध में भ्रम है। और यह सब इतिहास का ठीक ज्ञान न होने के कारण है।

यह कहना कि शृङ्गार-रस की रचना हिन्दी में अकबर अथवा अन्य किसी राजा या शाहंशाह के इशारे के कारण हुई, इतिहास के ककहरे की भी ज्ञान-शून्यता बतलायेगा, और उसमें भी राजा का कोई राजनीतिक मन्तव्य ढूँढ़ना तो महा अनर्थ होगा। शृङ्गार-रस सूरदास अथवा नन्ददास की कृति नहीं। पुराने भारत में इसका अस्तित्व मिलता है। कालिदास तो अकबर अथवा मुसलमानी काल में नहीं हुए? शकुन्तला जैसी विशुद्ध-प्रेम की दिव्य मूर्ति को शृङ्गार का मूर्त, मोहक और नग्न आलम्बन उन्होंने बना लिया सो क्या हिन्दुओं को मुसलमानों का गुलाम बनाने के लिए अथवा उनमें कायरता भरने के लिए? भवभूति ने मालती और माधव की कल्पना भी सम्भवतः इसी मन्तव्य से की थी! और आज रवीन्द्रनाथ भी संसार को क्या नपुन्सक बनाने का आयोजन कर रहे हैं?

शृङ्गार-रस की रचनाओं का विरोध किसी सिद्धान्त की दृष्टि से करने का सबको अधिकार है, किन्तु उसकी रचना करने वाले पर कोई अनुचित दोष लगाना और अप्रामाणिक बात कहना अक्षम्य समझा जाना चाहिए। सूरदास और 'अष्टछाप' के कवियों ने राधाकृष्ण के सम्बन्ध में शृंगारिक रचनाएँ कीं। वे रचनाएँ उनकी कवि-कल्पना और धर्म-संदेश की प्रेरणा से थीं। उनमें समय का उतना भी दिग्दर्शन नहीं जितना तुलसी-दास जी में। 'अष्टछाप' के कवियों के लिए कृष्ण का कर्त्ता रूप महत्त्व नहीं रखता। वे कंस को मारते हैं, तथा अन्य राक्षसों

को मारते हैं, यह उनके काम की चीज नहीं। उनके इस संहारक रूप का भाव उनके उदात्त स्वभाव को बल भले ही प्रदान करता हो परन्तु उनके लिये गौण है। तुलसीदास ने रावण के अत्याचारों और नृशंसता का चित्र खींचा है, उसमें कुछ तत्कालीन आभास मिल सकता है, किन्तु कंस ने क्या किया इसका वर्णन करने का अवसर सूरदास अथवा 'अष्टछाप' के कवियों को नहीं था। वे तो कृष्ण की लीला को ही अपने सामने रखते हैं। लीला का भी वह भाग जो मधुर और प्रेयस है।

साधारण दृष्टि से ही एक बात का पता लग जाता है कि तुलसीदास के राम मानव जीवन के आदर्श से बहुत कुछ ऊँचे उठकर आते हैं। वे बन-जंगल में भी राजा की तरह विचरते हैं। राम में मानव-जीवन का प्रत्येक पहलू और उसका महत्त्व हमें मिल सकता है। किन्तु उसमें व्यापकता नहीं। कृष्ण हमारे सामने बिल्कुल हमारे होकर आते हैं। उनकी बाललीला को पढ़कर हम अपने बालकों में कृष्ण का अनुभव करने लगते हैं। बड़े होने पर हम अपने हृदय की उद्दाम भावनाओं में राधाकृष्ण का आकर्षण अनुभव कर सकते हैं। कृष्ण इस प्रकार मानव जीवन में व्यापक हो गये हैं।

परमानन्ददास जी ने एक पद रचा और उसमें यह चरण रखा—

"परमानन्ददास कौ ठाकुर पिल्लनि लायौ घेरि।"

इनमें निश्चय ही कोई दिव्यता अथवा स्वभाव-चित्रण या मार्मिकता न थी। यह पद नष्ट करा दिया गया। परन्तु इससे एक बात कितनी स्पष्ट होती है। अष्ट-छाप के कवियों का यह कितना आग्रह था कि वे जीवन की प्रत्येक प्रक्रिया में उसी भगवान् को भर दें। उन्हें चारों ओर उनका सजीव, चतुर और सयौवन कृष्ण दिखायी पड़ता है। उनकी इस अनन्यता को कोई बुरा बतलाये तो बता सकता है, किन्तु यह कहना कि उसमें काव्य की प्रेरणा किसी राजनीति के सूत्र-धार के कारण थी, कभी ग्राह्य नहीं है।

मुसलमानों के दरबार से किसी भी अष्टछाप के कवि का सम्बन्ध नहीं रहा था। उन्हें अपने कृष्ण और कीर्तन-गान से छुट्टी ही कब थी। कृष्ण को एक क्षण के लिए भी विस्मृत करना उनके लिए पाप था। ऐसा था वैष्णव कवियों का वातावरण। वह अकबर के समय तक बहुत घनिष्ठ हो गया था।

व्यास मिश्र बहलोल लोदी के कृपा-पात्र थे। उन्हें चार-हज़ारी का मनसब मिला हुआ था। उनके पुत्र श्रीहितहरिवंशजी थे। हितहरिवंशजी बाद में महाप्रभु हुए और राधावल्लभीय सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। बहलोल लोदी ने श्री हितजी को दरबार में बुलवाया। मंत्री भेजे गये। मंत्री ने कहा—'हितजी चलिए सुलतान आपके पिता के गुणों पर मुग्ध हैं, वे आपको देखना चाहते हैं। बहुत कुछ देंगे।'

मंत्री ने कहा—

कुंअर तुम्हें नृप देखौ चाहें। व्यास मिश्र के गुन अवगाहैं॥
पट भूषण धन देहैं भलौ। मनसव लेहु नृपति पै चलौ॥

हितजी जा सकते थे। उनके द्वारा लोदी कोई राजनैतिक कार्य भी नहीं कराना चाहता था जैसे राजामहाराजाओं को एक धुन होती है, ऐसी ही एक धुन बहलोल को हितजी के देखने के लिए उत्पन्न हुई थी। किंतु एक भक्त के लिए यह बड़ी बात थी। हितजी ने क्या कहा ?

कुँवर कही तव मधुरी वानी। काल-ग्रसित सव विश्व वखानी॥
ब्रह्मलोक लौं नश्वर जानी। नृप संपति की कौन कहानी॥

हितजी नहीं गये।

लोदियों के बाद मुग़लों का शासन भारत में हुआ। हितजी की भावना और भी परिपक्व होती जा रही थी। हितजी ने भी जिस भावना से प्रेरित होकर वह उत्तर दिया था वह उनकी वैयक्तिक धारणा न थी। वह धर्म-प्रसूत थी। यह धारणा सभी भगवद् भक्तों में विद्यमान् थी। सभी राजा और राजसत्ता से विरक्त थे। अकबर के हृदय में एक धार्मिक जिज्ञासा थी। वह चहता था कि मैं भारतीय हो जाऊँ। धर्म और साहित्य सभी में वह ऐसी वस्तु की खोज में था जो उसे ठीक मार्ग बतादे। उसने धर्माचार्यों से वार्तालाप किया, उसने संगीतविदों से भेंट की और उन्हें

सम्मानित किया। इतिहासज्ञ, विद्वान और कवियों से वह सदा घिरा सा रहता था। जिसका भी नाम उसके कान में पड़ जाता था उसी को वह बुला भेजता था। उसने कुंभनदासजी को बुलाया, किंतु वहाँ कौन जाता।

संतन कहा सीकरी सौं काम।
आवत जात पनहियाँ टूटीं बिसरि गयौ हरिनाम॥

ऐसा स्थल तो त्यागने के योग्य है ही। सूरदासजी का यश उनके संगीतविद् होने के कारण विशेष था। संगीत में उनके शतशः शिष्य थे। उनके कारण सूरदास की ख्याति फैल रही थी। इन्हें भी अकबर ने बुलवाया। अनिच्छापूर्वक सूरदास जी गये। अकबर प्रसन्न हुआ। उसने कुछ सुनने की अभिलाषा प्रकट की। सूरदास देव, मतिराम, पद्माकर, केशव तो थे नहीं। अकबर सम्राट् क्यों, संसार का स्वामी भले हो, उन्हें आतंकित नहीं कर सकता था।

ऊधौ और गोपियों के बहाने ज्ञान और भक्ति का जो विवाद भ्रमरगीत में है, उसमें गोपियों से किसने ऊधौ को यह बताते नहीं सुना:—

ऊधौ मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयौ स्याम सँग को आराधै ईस॥

* * *

और

मधुकर मन तौ एकै आहि।
सो तो लै हरि संग सिधारे जोग सिखावत काहि ।

* * *

ऊधौ मन नहिं हाथ हमारे,

* *

जो भक्त गोपियों की तरह अपना मन दे चुका हो, जिसके पास अपना कुछ भी न हो वह भला कब किसके प्रभाव में आ सकता है। वह तो अकबर के सामने भी सूरदास की तरह यही कहेगा—

मना रे, तू कर माधव सौं प्रीति ।
काम क्रोध मद लोभ मोह तू, छाँड़ि सबै बिपरीति ॥
भौंरा भोगी बन भ्रमै, मोद न मानै ताप ।
सब कुसुमनि मिलि रस करै, कमल बँधावै आप ॥
सुनि परिमित प्रिय प्रेम की, चातक चितवन पारि ।
घन-आशा सब दुख सहै, अंत न जांचै वारि ॥
देखौ करनी कमल की, कीनौं जल सौं हेत ।
प्रान तज्यो प्रेम न तज्यो, सूख्यो सरहि समेत ॥
मीन वियोग न सहि सकै, नीर न पूछै बात ।
देखि जु तू ताकी गतिहि, रति न घटै तन गात ॥
प्रीति परेवा की गिनौ, चाहै चढ़न अकास ।
तहँ चढ़ि तीय जु देखिए, परत छांड़ि उर स्वास ॥
सुमिर सनेह कुरंग को, स्रवननि राच्यौ राग ।
धरि न सकत पग पछमनो, सर सनमुख उर लाग ॥

* *

चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता में लिखा है:—

"यह पद देशाधिपति के आगे सम्पूर्ण करिकै सूरदासजी ने गायौ सो यह पद कैसौ है जो या पद कौ अहर्निस ध्यान रहै तो भगवदनुग्रह की सदा सार्ति रहै और संसार ते सदा वैराग रहै और कुसंग कौ सदा भय रहै और भगवदीय के संग की सदा चाह रहै और श्री ठाकुरजी के चरणार्विन्द ऊपर सदा स्नेह रहे देहादि के ऊपर आसक्ति न होय। ऐसो पद देशाधिपति को सुनायौ सो सुनिकैं देशाधिपति बहुत प्रसन्न भयौ और कह्यौ जो सूरदास मोकों परमेश्वर ने राज दीनौं है सो सब गुनिजन मेरौ जस मानत हैं ताते मेरौ जस कछू गावौ। तब सूरदास ने यह पद गायौ सो पद—

इस पद को सभी जानते हैं।

नाहिंन रह्यौ मन में ठौर।  
नन्द-नन्दन अछ्त कैसे आनिये उर और।  
चलत चितवत दिवस जागत, सुपन सोवत राति।  
हृदय ते वह मदन मूरति छिन न इत-उत जाति।  
कहत कथा अनेक ऊधौ, लाख लोभ दिखाइ।  
कहा करौं चित्त प्रेम पूरन घट न सिंधु समाइ।  
श्याम गात सरोज आनन ललित गति मृदुहास।  
सूर ऐसे दरस कारन मरत लोचन प्यास।

इन पंक्तियों के कहने वाला कवि क्या कभी किसी के इशारे पर नाच सकता है? केवल कृष्ण का इशारा उसके लिए है—और किसी की बातों में ऐसा व्यक्ति आने का नहीं।

सूरदास में हम वही हितजी वाली भावना इस प्रकार प्रतिफलित होते देखते हैं।

कृष्ण मुसलमानों की सृष्टि न थे, राम को भी उन्होंने नहीं बनाया था और वैष्णव धर्म के नये उत्थान की प्रस्थानत्रयी का महान स्तंभ 'भागवत' भी मुसलमान काल से बहुत पहले निर्मित हो चुका था। भक्ति का प्रादुर्भाव वैदिककाल में भी झलकता है। वरुण के सम्बन्ध में लिखी गयी डाक्टर राधाकृष्णन की ये पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

यदि भक्ति का अर्थ हो व्यक्तिमय ईश्वर में श्रद्धा; उसके लिए प्रेम, उसकी सेवा में सब कुछ समर्पण और मोक्ष—वैयक्तिक अनुरक्ति से मुक्ति की प्राप्ति, तो निश्चय ही ये सभी तत्व हमें वरुण उपासना में मिलते हैं।

वरुण की व्याख्या करते हुए आगे आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं—

भक्ति के गौरव से युक्त वैष्णवों और भागवतों का देववाद, पाप की चेतना और दैवी क्षमा विश्वास के साथ साथ, वरुण की वेदीय उपासना में मिल सकता है।

प्रोफेसर मैकडोनॉल्ड का कथन है कि 'वरुण का चरित्र उन्नत कोटि के एकदेवानुवर्ती विश्वास के दिव्य शासक के समकक्ष है।'

वरुण की यह भक्ति विष्णु में कैसे परिवर्तित हो गयी, यह भी अथर्ववेद के इन मन्त्रों से स्पष्ट हो जाता है। इनमें

विष्णु और वरुण को साथ-साथ रख कर फिर दोनों को एक कर दिया गया है।

यर्यो रोज सा स्कभिता रजांसियौ वीर्यैर्वीर तमाश विष्ठा यौ पत्येते अप्रतीतो सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ७--२९--१

यस्येदं प्रदिशि यद् बिरोचते प्रवानति विचचष्ठे शचीभिः पुरादेवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्ण हूतिः ७-२९-२

राधा का जन्म अष्टछाप से पूर्व हो चुका था। जयदेव और विद्यापति की रचनाओं ने राधा को एक अभूतपूर्व रूप दे दिया था। जब तत्वतः सभी सामग्री पहले से उपस्थित थी तब अष्टछाप के कवियों ने अकबरी दरबार के इशारे पर कौनसी घातक रचना रची? ऐसे भ्रममूलक और निराधार कथनों को हमें प्रश्रय न देना चाहिए। यह उन पूर्व कवियों के साथ अत्याचार है, जो ऐतिहासिक स्थिति के सम्बन्ध में अपना वक्तव्य देने नहीं आ सकते। हम उनकी शृंगारिक रचनाओं को घातक समझते रहें, यह उनकी रचना को अपनी दृष्टि से तौलना है, इसका प्रत्येक को अपनी धारणा के अनुकूल अधिकार है। किन्तु किसी तथ्य को कुछ का कुछ रूप देकर प्रस्तुत करना, और इस प्रकार निराधार गपोड़े के सहारे किसी के प्रति घृणा फैलाने का कार्य अक्षम्य और गर्हित समझा जाना चाहिए।

अष्टछाप और सूरदास पर अकबरी दरबार के इशारे पर कर्म करने के दोष की कल्पना एक और बात पर आश्रित हो

सकती है। सूरदास अकबर के दरबार में गये थे। इसका प्रमाण 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' से भी मिलता है—और इसका अभिप्राय केवल इतना ही हो सकता है जितना महात्मा गाँधी का सम्राट जार्ज पंचम से मिलना। क्या वे सम्राट के इशारे पर अपने कार्य कर रहे हैं? ऐसा सोचना हमारी युक्तिमत्ता का दिवाला ही सूचित करेगा। सूरदास जी अकबरी दरबार से प्रतिष्ठित रामदास के पुत्र थे अथवा नहीं, यह प्रश्न अभी विचारणीय ही है। इस पर विचार तो फिर कभी किया जायगा। किन्तु इससे भी सूरदास की जिस मनःस्थिति का चित्र ऊपर दिया गया है उससे वे दरबार से प्रभावित होने वाले कभी नहीं कहे जा सकते। हित हरिवंशजी के पिता भी बहलोल द्वारा सम्मानित थे। उनकी प्रतिष्ठा भी उसके यहाँ थी, फिर भी हितहरिवंश पर उसका कुछ प्रभाव न पड़ा। प्रतिभा अपनी रचना के लिए अपने अन्दर ही रस प्राप्त करती है। बाह्य जगत अपनी सारी सत्ता के साथ प्रतिभा में पच कर समय, समाज अथवा नीति के प्रभाव से मुक्त होकर अमर और अलौकिक वस्तु बनकर निकलता है। सूरदास और अष्टछाप की रचनाओं में जिन मनोरम भावों और कल्पनाओं का भण्डार है वह मनुष्यों के लिए कभी अहितकर न है, न हो सकता है।

## सहायक तथा पठनीय पुस्तकें

हिन्दी—वर्मा: अष्टछाप, तुलसी: रामचरितमानस, भूषण-ग्रन्थावली काशी ना० प्र० सभा; राजा लक्ष्मणसिंह: शकुन्तला (कालि·

दास), सूरदास : भ्रमरगीत : नंददास : भ्रमरगीत; गोस्वामी गोकुलनाथ : चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता, अथर्ववेद (स्वाध्याय मण्डल, अजमेर), हजारी प्रसाद द्विवेदी, सूर-साहित्य, संक्षिप्त सूरसागर (हि० सा० स० प्रयाग), दीन : सूरपञ्चरत्न, बख्शी: विश्व-साहित्य; शिखरचन्द्र जैन : सूर-एक अध्ययन; सान्याल : सूरदास ।

अंग्रेजी—Elliot and Dowson. Vol. IV.; Smith: Akbar; Havele: Aryan Rule in India; Badsoni: Munta Khab-ul-Tawarikh: Abul Fajl: Akbar Nawab; Rabindra Nath Tagore: Personality; Sir Radha Krishna: Indian Philosphy Parts I and II.

— ७ —

# हिन्दी में हास्य-रस

संस्कृत-साहित्य पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि रसों का उद्भव नाट्यशास्त्राचार्यों के द्वारा हुआ। रस नाटकों के लिए ही आवश्यक समझे जाते थे। काव्य में उनका स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाना बहुत समय के बाद की बात है—उस समय की बात है जब ध्वनिकार और मम्मट ने उसे श्रव्यकाव्य में भी एक महत्व पूर्ण स्थान दिया। दृश्यकाव्य में तो रस का शिरोस्थान भरत

रस-प्रतिष्ठा

ने निर्विवाद माना है—'नहि रसादृते कश्चिद् अर्थ प्रवर्त्तते'। निस्सन्देह वह काल ही ऐसा था कि काव्य में दृश्यकाव्य ही अधिक सम्मान्य समझा जाता था।

विशेष समय का अपना निजी स्थायित्व-व्यंजक प्रवाह होता है। यह विशेषता ही उस काल की संपत्ति और विकास की एक विस्पष्ट प्रगति की श्रेणी होती है।

वाग्धारा के प्रवाह ने आदि-काल से, आदि स्रोत से चलकर अनेक रूप ग्रहण किए हैं। यदि सरस्वती की सौम्य प्रसादी ने कहीं अलंकारों में मोह दिखाया है, तो कहीं चमत्कार पर ही विस्मित हो रह गयी; कभी व्यंग्य-दृष्टि में काव्य का अनन्द लूटा तो कभी रस-रहस्य ही उसका सर्वस्व हो रहा। यही उसके विकास की सीढ़ियाँ बन गयीं।*

शास्त्रों के आरम्भिक काल में दृश्यकाव्य ही पारिजात हो रहा था। उसकी सुरभि ने वामन को मुग्ध कर लिया—और अभिनव ने तो यहाँ तक लिख डाला—'काव्यम् तावद् दश-रूपात्मकम् एव'—और भी 'लोक-नाट्य-धर्मी स्थानीय' काव्य हैं—उसने कहा—नाट्य एव रस-काव्ये च नाट्यमाना एव रसाः काव्यार्थः।

इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के उदय की

*देखो—'हिन्दी कहानी की परिभाषा'

वेला में नाटकों की अरुणिमा का रंग था—और उनमें रसों की प्रधानता थी—उनका जीवन ही रस था।

उधर योरुप में हमें यद्यपि रस जैसी किसी वस्तु का नामकरण तो नहीं दिखाई पड़ता, तो भी नाटकों ने जब मिस्टीज़ और मोरल नाटकों की नीरस धार्मिक धुंध से निकल मिरेकल नाटकों के रूप में चमत्कार पाया तो वे सिद्धान्तों और आदर्शों के फेर में न रहे। उनमें लौकिकता का प्रवेश हुआ। वे रोचक होने के लिए नमक-मिर्च का पुट पाने लगे। उनमें वह रस अलक्षित रूप से, चुपचाप बिना नाम के, स्थान पा गया। अतः रस की प्रधानता नाटकों में सभी जगह मान्य है! पर भारतीय तथा योरपीय दृष्टिकोण में ध्रुवांतर है। एक ने कला के संजीवक सौंदर्य को देखा, दूसरा उसे ही बस समझकर रह गया! एक ने जीवन-कमल को विनश्वर जगत के कलुष पंक से निर्लिप्त रखना सीखा था, उसके लिए माया का वह शोक-संकुलित सम्मोहन ही श्री न था, फिर वह उसकी कला में क्यों आता! माया का कटु निःश्वास तो मनुष्य की जीवन-कलिका को प्रतिक्षण ही झुलसाया करता है—उनका अस्तित्व है भी, और नहीं भी; पर वे अमर नहीं, इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं। फिर जीवन की यथार्थता में उनका स्थान कहाँ है—और कहाँ है उनमें कला का उद्रेक? अयथार्थता से यथार्थ—चरित्र का विकास—सूत्र ठीक नहीं पाया जा सकता। तब क्यों न कुछ क्षण के लिए इस अयथार्थता के विकट कटु मोह से विमुक्त हो

अलौकिक आनन्द में मग्न हुआ जाय ! इसीलिए भारतीय काव्य ने निर्लिप्त-विमुक्त अलौकिकता को अपनाया और नाटकों की ओर प्रवृत्ति न दिखायी।

उधर योरुप की जीवन-समस्या यथार्थता का सहारा लेकर कला के सौंदर्य में ही अपने को भूल गई। वह आगे न बढ़ सकी। जीवन लिप्त है—विकास के लिए क्षेत्र पाने को तड़पता है। वह विकास की एक-एक डग समझता जाता है और सोचता जाता है। वह उस भूले व्यक्ति की तरह गिन-गिन कर पैर रखता है, जो त्रुटि देख पड़ने पर फिर उन्हीं पैरों लौट जाने का विचार करके आगे बढ़ा हो ! भला इस विकास को हम विकास कह सकते हैं—इस उन्नति को उन्नति कह सकते हैं ? इसीलिए उनके यहाँ हृदय की यही कमज़ोर दिशा है—लिप्त जीवन की वह छटपटाहट है। उनके यहाँ दुःखांत नाटक हैं। वे कहते हैं—हम संसार में नित्य यही देखते हैं। पता नहीं, खाली आँखों से देखते हैं अथवा माइक्रास्कोप से ! इसीलिए दोनों की वस्तु चाहे एक ही हो, पर रंग भिन्न है, रूप भिन्न है, जीवन भिन्न है।

अपने साहित्य का अपना दृष्टिकोण तो है ही, पर इस युग में—इस विश्व-साहित्य के युग में—और इस भाषा-दासत्व के युग में—योरुप के प्रभाव ने भी हमारे यहाँ अपना एक मार्ग बना लिया है। यहाँ हमें वर्तमान नाटकों के सम्बन्ध में योरुप के प्रभाव की विशेष विवेचना नहीं करनी है। इतना जानना ही अभीष्ट है कि क्या भारत क्या योरुप, दोनों के ही नाटकों में

रस की प्रधानता रही। भारत जहाँ रस की स्थायी स्थिति के लिए पूर्ण मग्नता—तल्लीनता चाहता है, वह भी अलौकिक आनन्द में, वहाँ योरुप आवेग और तत्काल आनन्द चाहता है—ऐसा भेद क्यों है ? इसका कारण स्पष्ट किया जा सकता है। रस में इस आवेग को भर देने का प्रयास आज हमें अपने नाटकों में देख पड़ता है।

हम नाटकों में रस की प्रतिष्ठा देख चुके।

संस्कृत में नाटकों द्वारा ही रस की प्रतिष्ठा हुई। किन्तु हिन्दी में हमें रस का पता पहले काव्य ( श्रव्य ) में, फिर गद्य-लेखों में और नाटकों में मिलता है। भारतेन्दु से पूर्व रस की अभिव्यक्ति केवल काव्य-द्वारा हुई। उस काल में सब से अधिक महत्त्व शृङ्गार-रस को मिला। शृङ्गार-रस रसराज समझा जाता था। अपनी रचनाओं में उसका स्तवन कवियों ने गौरव का साधन समझा। हिन्दी-साहित्य में ही नहीं, संसार के प्रायः सभी साहित्यों में भी यही बात मिलेगी। हमें तो हिन्दी की ही बात कहनी है। शृङ्गार के सामने अन्य रस दब गये। करुणा अथवा वीर और रौद्र के कुछ स्पष्ट छींटे अवश्य मिल जाते हैं नहीं तो, भारतेन्दु से पूर्व काव्य-भूमिका का पट शृङ्गार-रस से ही रञ्जित था। हास्य-रस पर तो दृष्टि इतनी फुटकर पड़ी है कि उसकी उस काल की कोई रूप-रेखा खड़ी नहीं की जा सकती। पूर्व काल में जब प्रबंध-रचना में विशेष प्रवृत्ति थी, हमें तुलसी और सूर में इस हास्य के दर्शन होते हैं। रामचरित मानस में

शिव-बरात-वर्णन में, और कवितावली में राम के वन-गमन में ऋषियों के सुख की कल्पना में। शिव-बरात-वर्णन के सम्बन्ध में तो पं० रामचन्द्र शुक्ल जी का यह विचार ठीक है कि—

"हास्य-रस और वीभत्स-रस ये दो रस ऐसे हैं, जिनमें आलंबन के स्वरूप से ही कवि-परम्परा काम चलाती है, आश्रय द्वारा व्यंजना की अपेक्षा नहीं रखती।"

—पद्मावत की भूमिका पृष्ठ १२६

तुलसीदासजी ने भी शिव के बरातियों के स्वरूप और चेष्टाओं से हास्य का चित्रण किया है—किन्तु जहाँ कवितावली में उन्होंने लिखा—

विंध्य के बासी उदासी तपोव्रत-धारी<br>
महा विनु नारि दुखारे।<br>
गौतम-तीय तरी, तुलसी, सो कथा सुनि<br>
भे मुनि-वृन्द सुखारे॥<br>
ह्वै हैं सिला सब चंद-मुखी<br>
परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे।<br>
कीन्ही भली, रघुनायक जू, करुना करि<br>
कानन कों पगु धारे॥

वहाँ व्यञ्जना से काम लिया। लक्ष्मण-परशुराम संवाद में भी व्यंग्य हास्य मिलता है।

सूरदास ने कृष्ण के मानव चरित्र और दैव-रूप की कल्पना

की विषम विपरीति में हास्य उपस्थित किया है—यह सब बहुत कम है।

स्फुट काव्य लेखकों के रचनाओं में भी हास्य की कुछ स्थिति मिलती है।—यहां तक काव्य-गत हास्य की मूल-प्रवृति आलंवन-स्वरूप का चित्रण दे रही है। उसका उद्देश्य केवल हँसा देने या हँस लेना रहा है।

वार वार बैल को निपट ऊँचो नाद सुनि,
हुँकरत वाघ विरझानों रसरेला में।
'भूधर' भनत ताकी वास पाइ शोर करि,
कुत्ता कोतवाल को वगानों वगमेला में॥
हुँकरत मूपक को दूपक भुजंग तासों,
जंग करिवे को झुक्यौ मोर हर तेला में।
आपुस में पारपद कहत पुकारि कछु,
रारि सी मची है त्रिपुरारि के तबेला में॥

ऐसे कवित्तों में हास्य के द्वारा कवि कोई विशेष उद्देश्य नहीं सिद्ध करना चाहता। शिवजी के कुटम्बियों के वाहन यदि एक स्थान पर बाँध दिये जायँ तो क्या अवस्था हो? उसमें अवश्य ही हँसने की सामग्री है। पर कवि उससे आगे उस कल्पना पर आघात नहीं करना चाहता जिसने शिव को नान्दी, शक्ति को सिंह, गणेश को मूषक, कुमार को मयूर दिया।

भारतेन्दु के समय में आकर हास्य की अवस्था और उद्देश्य में अन्तर उपस्थित हुआ। अब वह कवि समाज में उतर आया था।

उसने उसके विकारों की हँसी उड़ाना आरम्भ किया। भारतेन्दु जी ने चूरन के लटके में कहीं कहीं इस प्रवृत्ति का पहले परिचय दिया है--

चूरन जबसे हिंद में आया। इसका धन बल सभी घटाया।

+ + + +

चूरन जमके सब जो खावैं। दूनी रिश्वत तुरत पचावैं।

+ + + +

चूरन सभी महाजन खाते। जिससे जमा हजम कर जाते।

+ + + +

चूरन पुलिस वाले खाते। सब कानून हजम कर जाते।

इसी काल से गद्य में भी हास्य की अवतारणा हुई। इन गद्य-लेखों में तो अन्तर्निहित उद्देश्य की हँसी-हँसी में मीठीमार मारना था। बालमुकुन्द गुप्त ने शिवशम्भु बन कर भाँग छान कर जो बहुत बे पर की उड़ाई हैं, वे क्या वस्तुतः बेपर की हैं। इनमें लेखक ने कितनी सामाजिक और राजनीतिक आलोचना उपस्थित की है। हास्य रस की यही धारा कुछ कुछ विकसित हो पं० पद्मसिंह शर्मा में होती हुई पं० हरिशंकर शर्मा तक पहुँची है इसका मूलतत्व विवेचनात्मक है। वर्णन का पुट-मात्र रहता है कथात्मक हास्य का आरम्भ जी० पी० श्रीवास्तव से आरम्भ हुआ माना जायगा। उन्होंने 'लम्बीदाढ़ी' जैसी रचनाओं में कहानियां लिखी हैं। इनमें जो कुछ है वह उतना सुन्दर नहीं जितना अन्नपूर्णानन्द में। अन्नपूर्णानन्द भी कथात्मक हास्य

लिखते हैं। इनका हास्य संस्कृत और कोमल है। हास्य को उपस्थित करने की विविध प्रणालियों में से एक काव्य-परिहास (Parody) भी है। इसका आरम्भ भी भारतेन्दुकाल में होगया था। प्रतापनारायण मिश्र जी ने हरगंगियों की अनुकृति में अपने 'ब्राह्मण' पत्र के लिए चन्दा-याचना की परिहासात्मक कविता रचडाली। यह परिहास प्रवृत्ति पं० ईश्वरीप्रसाद के चना-चवेना बदरीनाथ भट्ट की 'मिस अमेरिकन' आदि में होकर आज बच्चन जी की अनुकृतियों में प्रकट हो रही है। अब नाटकों को हम पीछे नहीं छोड़ सकते।

**नाटकों में हास्यरस की उपलब्ध सामिग्री**

हिन्दी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र जी से ही नाटकों का आरम्भ माना जाना ठीक है। प्रेम-जोगिनी की प्रस्तावना में उन्होंने स्वतः सूत्रधार से यही बात कहलवायी है। वास्तव में वह अनुवाद-युग था। संस्कृत और बंगला के अनुवादों की भरमार थी। भारतेन्दु जी ने स्वतः पाँच बड़े-बड़े नाटकों का संस्कृत से अनुवाद किया। इसमें संदेह नहीं कि स्वतंत्र रचनाएं भी की गयीं। उन रचनाओं में संस्कृत-शास्त्र की जटिलताओं का अनुकरण नहीं किया गया, फिर भी उनका स्वर संस्कृत-नाटकों का स्वर है। उनमें नाटकों की अपनी मौलिकता नहीं। भारतेन्दु उस समय आदर्श स्थान पा गये, और बहुत काल तक साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में उनका अनुकरण किया गया। अभी कुछ साल पहले तक उनकी शैली साहित्यिक

नाटकों में प्रधान रही। हाँ, उनके बाद उनके स्कूल का कोई भी अनुयायी हास्यरस पर क़लम भी न चला सका।

**भारतेन्दुजी**

भारतेन्दु जी के नाटकों में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अन्धेर नगरी' प्रहसन हैं। वैदिकी हिंसा में अवाँछनीय तीव्रता है। हास्य तो है ही नहीं, व्यंग भी उपहासास्पद है। कवि ने व्यंग और भौंडेपन में भेद नहीं किया। 'अन्धेर नगरी' में व्यंग की उतनी मात्रा नहीं है। इसी में कुछ हास्य मिलता है, परन्तु वह भी बहुत कम मात्रा में। इनके व्यंग अथवा हास्य में गहराई नहीं। इनका हास्य परिस्थितियों के बेजोड़ संयोग-दर्शन तक ही सीमित रहा।

**जी० पी० श्रीवास्तव**

भारतेन्दु जी के बाद और भी नाटक लिखे गये, परन्तु हास्य रस के ऊपर कलम नहीं चलायी गयी। समाज में इस काल में अनेकानेक बुराइयाँ भरी हुई थीं, उनकी ओर समाज-सुधारकों की दृष्टि लगी हुई थी। विदेशी शासन से भी लोग खिन्न हो गये थे। अतः लेखकों की दृष्टि भी इन्हीं आन्दोलनों की ओर आकर्षित रही। जो कुछ भी व्यंग-हास्य हुआ, वह छोटी छोटी कटूक्तियों तथा व्यंग पूर्ण लेखों में लिखा गया। नाटकों में उसे कम स्थान दिया गया। अब हम बिलकुल ही आधुनिक युग में आ जाते हैं। इस समय हास्य की ओर आकर्षित करने

का श्रेय जी० पी० श्रीवास्तव को है। उनके प्रहसनों की धूम मच गयी, उनके हास्य ने लोगों को लोट-पोट कर दिया। 'लम्बी दाढ़ी' लिखकर उन्होंने अपनी हास्य कुशलता को कसौटी पर कसकर देखा। फिर उन्होंने प्रहसनों की ओर पग बढ़ाया। इस ओर वह स्वतंत्र रूप से न बढ़ सके। फ्रांस के जगत प्रसिद्ध हास्य-रस-लेखक मौलियर का पल्ला पकड़ कर चले। इनकी खासी धूम रही। वह समय आ गया कि अमेच्योर ड्रामाटिक क्लब बहुधा कालिजों और स्कूलों में खुले। वे नाटक खेलते डी० एल्० राय का तो इंटरल्यूड (प्रहसन) रखते जी० पी० श्रीवास्तव का। इनके हास्य के सम्बन्ध में हमें कुछ विशेष नहीं कहना है। हास्य अथवा व्यंग्य में एक पक्ष की ओर झुकाव रहता है। मौलियर की यह विशेषता रही है कि वह अपने विरोधी पक्ष को, जितनी भी असमवेद्य-श्रेणी हो सकती है, उस तक पहुँचा देता था, और अपने पक्ष के समर्थन में जितना कुछ दिखा सकता था, दिखाता था। ऐसी दशा में उसके नाटकों का वास्तविक आनन्द तभी प्राप्त हो सकता है, जब उसके समय अथवा समाज-जैसी ही कोई आक्षेप के योग्य स्थिति हमारे यहाँ भी हो, जिससे हास्य का विषय घृणास्पद, दयनीय तथा स्वतः हास्यास्पद न बन जाय। भारत के वातावरण के साँचे में फ़िट बैठाने की चेष्टा से मौलियर के नाटकों की छाया पर श्रीवास्तवजी ने जो प्रहसन लिखे हैं, उनमें वह बात नहीं। उनके स्वतंत्र प्रहसनों में भी अपने गुरु की तरह कृत्रिम अस्वाभाविक स्थितियों का

वैचित्र्य है, जो समवेदना के स्थान पर घृणा का उद्रेक कर देता है। पात्रों के साथ ठेठ निष्ठुरता की गयी है। वे पूरे 'चौखट' दिखायी पड़ते हैं, जैसे किसी में भी विवेक नहीं। यह हास्य नहीं, यह वह मखौल है जो भाँड़ों के अभिनय में मिलता है। दूसरे, ऐसा प्रतीत होता है कि वे पूर्वी भाषा के पीछे पड़ गये हों— उसी का मज़ाक उड़ा रहे हों। उनके नाटकों में यदि किसी को हँसी आती है तो पूर्वी भाषा के प्रयोगों पर, जिसे देखकर सहृदय का हृदय दलक उठता है। भला एक भाषा का मज़ाक क्यों बनाया जाता है? उनके मज़ाक की भावना में तीव्रता और अशिष्टता दोनों ही विद्यमान हैं। इनके प्रहसनों के जीव किसी बिलकुल ही हास्यास्पद समुदाय के भोंदू दीखते हैं, जिनमें हास्य का सौष्ठव नहीं, उसकी मर्यादा नहीं, केवल उद्रेक है।

**बद्रीनाथ भट्ट**

दूसरे प्रहसन-लेखक पं० बद्रीनाथ भट्ट हैं। आपने जहाँ 'तुलसीदास', 'चन्द्रगुप्त' तथा 'दुर्गावती' जैसे नाटक लिखे हैं, वहाँ 'चुङ्गी की उम्मेदवारी', 'विवाह-विज्ञापन', 'मिस अमेरिकन' आदि प्रहसन भी लिखे हैं। नाटकों में भी अपने हास्य की अवतारणा का प्रयत्न किया है, और बहुत ही यत्न के साथ अपनी इन कृतियों में विदूषक को स्थान नहीं दिया है। जो कुछ हास्य है, वह कथानक के कुछ प्रकृत पात्रों द्वारा ही अभिव्यक्त कराया गया है। पर वह हास्य नगण्य है, उसमें कुछ विशेष महत्त्व

नहीं है। हाँ, हमें आपके प्रहसनों के हास्य और व्यंग्य को देखना है।

चुङ्गी की उम्मेदवारी में, जिस शैली पर इनके रस का प्रकाश हुआ है वह आगे के प्रहसनों में नहीं दिखायी पड़ता। इस प्रहसन में मेम्बरी के लिए उत्सुक अनपढ़ व्यक्तियों का नग्न चित्र-सा रख दिया है। वह सब वास्तव में हास्यास्पद है। परन्तु जो शक्ति इसके रस में झलक रही है, वह अनागरिक है। वह धीरे-धीरे परिपक्व होकर 'विवाह विज्ञापन' और 'मिस अमेरिकन' जैसे प्रहसनों में हमें दिखायी पड़ती है। इनके ये सभी प्रहसन मौलिक हैं। किसी की छाया अथवा किसी के अनुकरण पर इनकी गति नहीं। अतः जी० पी० श्रीवास्तव जी के प्रहसनों की तरह इनके प्रहसन ज़बर्दस्ती किसी साँचे में नहीं बिठाये गये।

भट्टजी सिद्धान्ततः बंगाली रहस्यमय आवेश के विरोधी हैं। भावुकता का वह रूप जो केवल कल्पनावृत्त ही हो, आपको पसन्द नहीं। अतः आपके नाटकों में सीधे-सादे कथन दिखायी पड़ते हैं। कल्पना की भावुकता-भरी उड़ान इसीलिए नहीं मिलती कि आप उसे बंगाली प्रभाव समझते हैं, और उससे बचने के लिए सतर्क रहते हैं। अतः भट्टजी की शैली अपनी है। उन्होंने संभवतः नाटकों में हिन्दीपन ही रखने की प्रबल चेष्टा की है, और इस समय आप ही एक ऐसे नाटककार हैं, जो इस दृष्टि को कभी ओझल नहीं होने देते। और सभी नाटककारों में

या तो बँगला के आवेश का अथवा योरुप के रंग का समावेश है।

इनका हास्य अपना है। इनके व्यंग का लक्ष्य बहुधा अपनी समाज है। 'मिस अमेरिकन' में आपने अमेरिकन स्त्री समुदाय का पुंश्चलीपन चित्रित किया है। इसमें आपने पैरोडी के द्वारा पुराने कवि तुलसीदास आदि के काव्यों के कुछ अंशों में परिवर्तन करके एक पागल कवि का अंकन किया है। इनके पात्र जी० पी० श्रीवास्तव की तरह बिल्कुल चौखट नहीं, न इनकी भाषा ही असाहित्यिक है। परन्तु आप अवश्य ही हास्य की सीमा का उल्लंघन कर गये हैं। न जाने क्यों अमेरिकन समाज का इतना कठोर खाका खींचा है? मौलियर अपने विरोधी पक्ष की जितनी असमवेद्य श्रेणियाँ हो सकती हैं उनमें रख देता है। परन्तु उसके साथ निष्ठुरता नहीं करता। आपने अमेरिकन समाज के जिस चित्र को सामने रक्खा है, उसमे मिस अमेरिकन के ही साथ नहीं वरन् सारी अमेरिकन समाज के साथ निष्ठुरता की गयी है। और उन पात्रों में व्यक्तित्व का अंश शून्य रहने के कारण वे समाज के प्रतीक (टाइप) मात्र रह गये हैं, इसलिए उनके अन्दर अभावात्मकता आ गयी है*।

---

*एक अँगरेज़-लेखक ने व्यंग्यमय हास्य (सैटायर) का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

Most satirists are usually prone to the error of attacking either mere types, or else individuals too definitely marked

भट्टजी के प्रहसनों में यही वस्तुओं के अभावात्मक रूप आ गये हैं, जिनसे हास्य की सजीवता नष्ट हो गयी है। इनकी भाषा अवश्य साहित्यिक है, परन्तु गठन और योजना में, यहाँ तक कि वस्तु और शैली में भी, कोई साहित्यिकता नहीं। शृङ्गार और हास्य के लेखकों को बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। ये दोनों बड़े ही कोमल रस हैं। एक किञ्चित् असावधानी के कारण अश्लील हो जाता है, दूसरा भद्दा और अनागरिक हो जाता है—हास्य के मार्दव से रहित अहितकर मखौल की उच्छृङ्खल कटुता अथवा अश्लीलता का विचित्र विभ्राट् हो जाता है। मिस अमेरिकन, इसीलिए, जब कि सरस्वती में प्रकाशित हो रहा था—साहित्य-महारथियों और साहित्य-प्रेमियों द्वारा अवांछित समझा गया।

हिन्दी के ये दो प्रहसन-लेखक * हैं। यों तो और भी

---

as individuals. In the first case the point of zest of the thing is apt to be lost, and the satire becomes a declamation against vice and folly in the abstract.

* प्रहसन का अर्थ अब संस्कृत की पारिभाषिक सीमा के अंदर ही नहीं रह जाता है। हिंदी में प्रहसन के अर्थ में किसी भी ऐसे नाटक को लिया जा सकता है, जो हास्य और व्यंग्य के विचार से लिखा गया हो।

नाटकों के धार्मिक मूल के सम्बन्ध में एक और बात उपस्थित की जा सकती है, वह विदूषक का चरित्र है। विदूषक भारतीय नाटकों के साधारण नायक राजा का चिर तथा विश्वसनीय सहचर होता है। नाम से वह विदूपित करने वाला लगता है, और बहुधा नाटकों में वह रानी

एक-दो व्यक्ति कभी-कभी इधर अपनी लेखनी फिसला देते हैं, पर उनके अन्दर न तो कोई विशेषता ही है, न कोई उनकी धाक ही ।

अब हम उन नाटकों को लेते हैं जो प्रहसन नहीं वरन् जिनमें कथानक के किसी अंश की तीव्रता के कष्टकर प्रभाव को मंद कर देने के लिए जहाँ तहाँ हास्य का समावेश करने की चेष्टा की गई हो ।

ऐसे नाटकों के तीन भेद किये जा सकते हैं—

(१) विदूषक-संयुक्त
(२) हास्य-पात्र-संयुक्त
(३) प्रहसन-शृंखला-संयुक्त

**विदूषक-संयुक्त नाटक**

प्राचीन काल में प्रत्येक राजाधिराज के मनोरंजन के लिए एक बहुत ही विद्वान ब्राह्मण रहा करता था । वह बहुत ही तीक्ष्ण बुद्धि और तत्काल-उत्तर देकर चित्त में बिजली दौड़ा देने की शक्ति रखता था । ऐसा व्यक्ति संस्कृत-नाटक-परंपरा से राजकुमार-नायकों का अन्तरंग मित्र और उनका मनोरंजन करने वाला सखा चित्रित किया गया है । वह राजा का मित्र था, सहायक था और मनोरंजन करने वाला भी । राजा के प्रत्येक भेद से वह

की दासी के साथ तीव्र वार्त्तालाप की प्रतियोगिता करता मिलता है । जिसमें निस्संदेह वह सफल नहीं होता मिलता ।

परिचित रहता था, इससे यह भी सिद्ध है कि वह अत्यन्त विश्वसनीय होता था। ऐसा नहीं कि भारत में और संस्कृत-नाटकों में ही, प्रत्युत इस विदूषक के दर्शन हमें पाश्चात्य जगत में भी कई रूपों में होते हैं। राजाओ के दरबार के मोटले फूल यही विदूषक हैं।

**विदूषक-परंपरा**

हिन्दी के जो नाटक प्राचीन गौरव को लेकर किसी राजा के घटना-तारतम्य के आश्रय पर खड़े किये जाते हैं, जिनमें कुछ ऐतिहासिकता का भी विचार रक्खा जाता है, उनमें राजा के साथ विदूषक भी दिखलाया जाता है। हमें ऐसे विदूषक के भ्रष्ट रूप के दर्शन हिन्दी के मौलिक लेखक श्रीजयशंकर 'प्रसाद' जी के नाटकों में मिलते हैं।

**संस्कृत-नाटकों में विदूषक**

संस्कृत के प्रायः सभी नाटककारों ने विदूषक को राजा का अन्तरंग मित्र, उसके कार्यों को सफलता दिलानेवाला एक आवश्यक साधन और 'पेटू' दिखाया है। नाटकों के धार्मिक मूल पर विचार करते हुए श्रीयुक्त कीथ विदूषक का वर्णन करते हैं—

For the relegious origin of drama a further fact can be adduced, the character of Vidusaka, the constant and trusted companion of the king, who is the normal hero of an Indian play, The name denotes him as given to abuse, and not rarely in the dramas he and one of the attendants on the

queen engage in contests of acrid repartee, in which he certainly does not fare better.

संभवतः कीथ महोदय ने विदूषक के संम्बन्ध में यह धारणा राजशेखर की कर्पूरमंजरी के विदूषक के आधार पर बनायी है। जो हो, कीथ जैसे तथा विल्सन जैसे पाश्चात्य संस्कृत-विद्वानों ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि विदूषक ब्राह्मण ही क्यों रक्खा गया! वास्तव में राजा का सच्चा तथा अन्तरंग मित्र होने के लिए यह आवश्यक समझा गया होगा कि वह व्यक्ति विद्वान तथा तत्काल-उत्तर देने में समर्थ हो, साथ ही उच्च वंश का भी हो, ताकि उनकी पारस्परिक धार्मिक सन्धि में किसी प्रकार के रक्त-विकार के कारण मलिनता न आ जाय। हास्य के उद्भव में वैचित्र्य की प्रधानता रहती है। जब एक ऊँची श्रेणी का व्यक्ति किसी जाने-बूझे ढंग से अपने गौरव से उदासीन रहता है—नहीं, उलटे अपनी हीनता की घोषणा करता है, तो उसके लक्ष्य में वैचित्र्य देख पड़ता है, और हमें हँसी आ जाती है। कर्पूरमंजरी में राजशेखर का विदूषक जब कविता करता है, तो इसमें संदेह नहीं रहता कि वह जान-बूझकर ऐसी भद्दी रचना कर रहा है। कविता करते हुए भी उसका कथन-'मुझे जिसको काला अक्षर भैंस बराबर' और अन्य सभी बातें विचित्र प्रतीत होती हैं, पर गंभीरता न होने के कारण आश्चर्य में डाल कर मन में गुद-गुदी उठाकर हँसी की रेखा खींच देती हैं। यही तथ्य विदूषक के पेटूपन में है। वैसे तो पेटूपन स्वार्थ-चिंतन की

ओर ही संकेत करता है, और नाटक में जीवन-संग्राम के एक विशिष्ट आवेशमय भाग के चित्रण में पेटूपन की पुकार जगत् की मधुर माया के अमर व्यापार की ओर भी मनुष्य का ध्यान आकर्षित कर लेती है। संसार में केवल प्रेम या लड़ाई ही एक सत्य नहीं 'पेट' भी एक अनिवार्य सत्य है। इस दार्शनिक समीक्षा के साथ भी राजा के अन्तरंग मित्र (विदूषक) का 'भूखे और भूखे' चिल्लाना—हर बात में पेट का रूपक लगाना सचमुच हँसी का कारण होता है। जो सब का अन्नदाता, जिसके साथ किसी बात की कमी नहीं, भोजन भी जहाँ विविध व्यञ्जन-रस पूर्ण—उसी राजा का मित्र पेट पर हाथ धरे और लड्डुओं के लिए लार टपकाये—क्या यह हँसी का कारण नहीं? इसमें एक वैचित्र्य है, जो स्वार्थीपन की निर्मम नीचता की अतृप्त आकांक्षा पर आक्षेप करता—उसके चिर-असंतोष की ओर संकेत करता है। विदूषक को हमने इसी रूप में समझा है। वास्तव में कलात्मक हास्य की कसौटी पर यह कहाँ तक खरा उतरा है, इस पर हम यहाँ कुछ नहीं कहना चाहते, और न यही कहना चाहते हैं कि संस्कृत-नाटककारों के समक्ष 'हास्य' का रूप क्या था। हमें तो यहाँ केवल एक प्रगति की ओर संकेत करना था, प्रसंगवशात् उसके रूप के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना पड़ा।

ईसा की तीसरी शताब्दी के लगभग भास ने विदूषक को इसी रूप में दिखाया है। उसके 'अविमारक' नाटक में विदूषक

अपने स्वामी का भक्त है, वह उसके स्वार्थ-साधन के लिए जी-जान से सदा प्रस्तुत रहता है।

**पेटूपन का प्रदर्शन** युद्ध में भी कुशल है; पर वह पेटू है। भोजन का आनन्द उसके लिए भी बहुत ही आकर्षक है। 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' में वासवदत्ता की वह याद करता है, पर इसी लिए कि वह उसकी मिठाई की चिंता रखती थी, उसके लिए मिठाई का प्रबन्ध रखती थी।

मृच्छकटिक का विदूषक भी इस पेट पीड़ा का प्रकीर्णक है। वह अपने स्वामी का भक्त है। संकट में उससे पृथक् नहीं होता--उसके हितार्थ जान पर खेल जाने के लिए तैयार रहता है। पर भूख–वह स्वाद–वह ऐश–इन पर वह फिदा है, इनके लिए वह उत्सुक रहता है। बसन्तसेना की पाँचवीं ड्योढ़ी में पहुंचकर वह कहता है 'यहाँ बसन्तसेना का रसोई गृह मालूम होता है। क्योंकि अनेक प्रकार के व्यंजन में हींग और जीरे की महक से हम-जैसे दरिद्रों की लार टपकी पड़ती है। एक ओर लड्डू बंध रहे हैं, एक ओर मालपुआ बनता है, यहाँ कदाचित् कोई मुझसे खाने को झूठ पूछे, तो पाँव धो भोजन के लिए तुरन्त बैठ ही जाऊँ।'

कालिदास का माढव्य भी क्या इस पेट के परपट के बाहर है? रत्नावली और नागानन्द में भी विदूषक को इस पुट से संयुक्त कर दिया गया है।

**जयशंकरप्रसाद**

यही पेटूपन 'प्रसादजी' के विदूषकों में भी है। 'अजातशत्रु' में उदयन का विदूषक जीवक से बात करता हुआ कहता है 'हम लोग आया ही चाहते हैं, पत्तल परसा रहे—समझे न ?

जीवक—अरे पेटू, युद्ध में तो कौवे-गिद्ध पेट भरते हैं।

बसन्तक—और इस आपस के युद्ध में ब्राह्मण-भोजन करेंगे--"

और भी—

"जीभ अच्छा स्वाद लेने के लिए बनी है"

अजातशत्रु में विदूषक राजा का सहायक अथवा अंतरंग मित्र नहीं, वह तो पद्मावती के दूत की तरह आया है। उसका व्यंग अथवा हास भी जीवन का मखौल उड़ाने तक ही रह जाता है। न जाने किस दैव-संयोग से वैद्यों अथवा डाक्टरों की बड़ी धूल-दक्षिणा की जाती है। उन्हीं में प्रायः सभी देश के नाट्यकारों सैटायरिस्टों को अपने हास्य के लिए सामग्री मिलती है। फ्रांस के प्रसिद्ध मौलियर, बंगाल के अद्वितीय द्विजेंद्र इन डाक्टरों की खिल्ली उड़ाने से नहीं चूके—वही खिल्ली प्रसादजी ने जीवक की उड़ायी है। पर वह बिलकुल अनैतिहासिक, विद्रूप तथा पात्र के गौरव के सर्वथा प्रतिकूल हो गयी है। इतिहास में जीवक अपने कौशल के लिए अपने समय का अद्वितीय माना गया है, जिसने भगवान बुद्ध तक की चिकित्सा की, जो

बिंबसार का राजवैद्य था—उसकी विदूषक रेचक और पाचक में ही हँसी उड़ाले, और वह चुप सुनता रहे। यह इतिहास ज्ञान की अपूर्णता होने के कारण सम्भव हो सकता है, अथवा अस-हृदयता के कारण यहाँ दूसरी बात की संभावना है। हास्य में जब सहृदयता का लोप हो जाता है, सतूसंवेदना का अभाव रहता है, तो उसका प्रवाह क्षुब्ध ही नहीं हो जाता, वरन् वह शुष्कता का एक अगम्य मरुस्थल हो जाता है। विदूषक नाम से ही पाठक अथवा श्रोताओं के हृदय में जो उत्सुकता हो जाती है, यदि वह पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो पाती, तो उसका चित्रण सफल नहीं कहा जा सकता—वहाँ नीरसता और शुष्कता का आभास मिलता है, जिससे तबीयत ऊब जा सकती है। स्कंदगुप्त का मुद्गल भी विदूषक है। उसके चरित्र में हास्य नहीं, उसकी बातों में हास्य नहीं। हाँ लड्डू और भोजनों के प्रति लालसा प्रकट करने के कारण उसमें परंपराजन्य हास्य समझा जाय, तो भले ही समझा जाय; अन्यथा उसमें विशेष कुछ भी नहीं। प्रसादजी के विदूषक तो व्यंग करने में भी मन्द हैं। शेक्सपियर के विदूषक केवल हास्य के साधन-मात्र नहीं वरन् वे उसके साथ जीवन की अलक्षित सार्थकता को अनायास ही सिद्ध करते रहते हैं। जीवन के झकझोरों की मार्मिकता का पता हमें विदूषक की हँसी की बातों में एक दार्शनिक के दर्शन से भी अधिक मिल सकता है। ऐसी कला प्रसादजी में नहीं। उन्होंने प्रयत्न अवश्य किया है। निस्सन्देह प्रसादजी परि-

स्थिति की कृत्रिमता और आडंवर विद्रूपता की शरण लेकर कभी अस्वाभाविक भोंडापन नहीं उपस्थित करते जिससे साहित्य की मर्यादा का उल्लंघन हो जाय, पर साथ ही उनके जीवन के बड़े कटु अनुभव संभवतः उन्हें इस संसार के हलके विक्षेप में विश्वास ही नहीं करने देते—फिर उनमें हास्य आवे कहाँ से ? वह किसी भी दशा में अपने को संसार से ऊँचा उठाकर हलकी दृष्टि नहीं डाल सके। वह उसके भीतर घुसे हैं—भीतर जो विषादपूर्ण सत्य का साम्राज्य है, उसे ही प्रकट कर सके हैं ! विषादपूर्ण सत्य इसलिए कि ऊपर हमें जो दीख पड़ता है, वह वास्तविकता से विपरीत है; उसी विपरीतता का सत्य ज्ञान विषादपूर्ण हो सकता है। अतः प्रसादजी, कोशिश करने पर भी हलकी दृष्टि से जो भीतरी सत्य की तल-झलक दीखती है, उसे व्यक्त नहीं कर सके। शान्ति और रक्षा का प्रश्न भट्टारक उठाता है। मुद्गल प्रवेश करके उत्तर देता है—'रक्षा पेट कर लेगा, कोई दे भी। अक्षय तूणीर अक्षय कवच सब लोगों ने सुना होगा; परन्तु इस अक्षयमंजूषा का हाल बिना मेरे कोई नहीं जानता।" इस व्यंग में, इस कुशल कटाक्ष में भी वह असत् और सत् का कटु अनुभव झाँक रहा है, फिर हास्य कहाँ।

अतः इनके विदूषकों में न तो कोई व्यंग करने में विशेष चतुर हैं, न हास्य उपस्थित करने में ही। बस वे एक अनुचर

मात्र हैं। अतः संस्कृत-विदूषक के वे ऐतिहासिक भग्नावशेष हैं, जिन्हें देखकर विगत-च्युत वैभव की याद ही आ सकती है, मनोरंजन नहीं हो सकता।

स्कन्दगुप्त में मुद्गल का यदि विश्लेषण किया जाय, तो हर बार उसका भिन्न रूप देख पड़ेगा। यदि उसके वक्तव्य के पूर्व मुद्गल न लिखा हो, तो यह समझना भी महादुष्कर हो जाता है कि यह विदूषक है। एक ही अङ्क में चार स्थलों पर मुद्गल के चार भिन्न रूप ऐसा न जाने क्यों किया गया?

'प्रसाद' जी विदूषकों को न रखते, तभी अच्छा था। उस दशा में प्रवाह में नीरसता तो न उत्पन्न होती।

**हास्य-पात्र संयुक्त**

विदूषकों में कोई चरित्रात्मकता नहीं मिला करती। उन्हें वस्तुतः नाटक का पात्र कहना भी उचित नहीं लगता। उन के मूल में ही अस्वाभाविकता होती है। किन्तु नाटककार ऐसे पात्र भी उपस्थित कर सकता है जिनका स्वभाव ही हास्यमय हो। ऐसे पात्रों का विकास मिलता है। वे नाटक में अन्य पात्रों की भांति भाग लेते हैं। इसका एक सुन्दर उदाहरण उग्रजी के 'ईसानाटक' में 'ऐलाजर' है। यद्यपि वह भी 'पेट' और 'स्वाद' के आधार पर ही हास्य खड़ा करता है—पर उसमें इतनी सहनता, इतना काव्य और इतनी दार्शनिकता होते हुए भी इन सब का इतना अभाव है कि हास्य बड़े निखरे और संस्कृत रूप में उपस्थित होता है। ऐलाजर जब कहता है

"यदि सौन्दर्य भोजनीय होता......" तब वह क्या कहता होता है। यह कैसा परामर्श है? और यह सब हास्य एलाजर के चरित्र का निरन्तर विकास करता चलता है। विदूषक अपनी पात्रता के कारण ही यह समझता है कि मैं हँसने और हँसाने के लिए हूँ। ऐसी अवस्था में उसका कथन एक विशेष पूर्वधारणा से सुना जाता है और उसमें रस का अभाव होने लग जाता है। किन्तु नाटक का कोई भी पात्र जब अपने स्वभाव के कारण ऐसी बात तथा चेष्टायें करता है जिनमें हास्य का आलम्बन और उद्दीपन है तो वह पूर्ण प्रभाव के साथ रस के परिपाक में सहायता करता है। साधारणतः हिन्दी के साहित्यिक नाटकों में ऐसे पात्रों का अभाव है। लेखक के 'मुक्ति-यज्ञ' नाटक में 'कंचुकीराय' की बातें तथा चेष्टायें तो अवश्य ऐसी हैं जिनमें हास्य का आलम्बन और उद्दीपन है, किन्तु वह हास्य जिस मनोवृत्ति की प्रेरणा से उदय होता है वह श्लाघनीय नहीं कही जा सकती। उसमें उसकी बातों और चेष्टाओं में स्वतः हास्य अवश्य उच्च-कोटि का है किन्तु पूरे चरित्र की जो रूप रेखा तय्यार होती है उसमें वह हास्य कंचुकीराय को घृणा की भूमिका में दिखाता है। कंचुकीराय निश्चय ही कोई अभावात्मक रूपक नहीं। वह सजीव अपने जैसे पात्र हैं किन्तु उनके स्वभाव में हास्य नहीं परिस्थितियों की अवतारणा में उनकी स्वाभाविक बातें तथा चेष्टाएँ हास्योद्दीपक हो जाती हैं।

**प्रहसन-शृङ्खला-संयुक्त**

जो नाटक नाटक तत्व मात्र पर आश्रित नहीं होते, वरन् रंगमंचीय दृष्टि से रचे जाते हैं उनमें नाटक के मूल कथा-प्रवाह और विकास के बीच-बीच में हास्य-प्रेरक दृश्यों का विधान किया जाता है। उन दृश्यों की अपनी एक प्रथक कथा होती है, जिसका मूल से सीधा कोई लगाव नहीं होता। पं० राधेश्याम कथावाचक के अभिमन्यु में 'राजा साहब' का प्रहसन ऐसा ही है। वह अलग प्रहसन है किन्तु लेखक ने उसे मूल वस्तु से बहुत सूक्ष्म तन्तु से जोड़ दिया है। ऐसे प्रहसनों में लेखक कोई सौन्दर्य और कला नहीं ला पाता। हास्य भी स्वभाव और पात्र-विकास का नहीं होता बातों के घुमाव-फिराव और चेष्टाओं के कुडौल प्रदर्शन पर ही आश्रित होता है।

हास्य रस की जो सामग्री अब तक हिन्दी-साहित्य में उपस्थित हुई है वह सर्वथा हीन और असंस्कृत नहीं। उसमें कला की अभिव्यक्ति है किन्तु अभी उस कला का रूप पूरा खड़ा नहीं हो पाया। हास्य का चित्रण सभी अन्य चित्रणों से कहीं अधिक कठिन है। इसमें कहीं अधिक सुकर और सुचारु मनोवृत्ति के उल्लास की आवश्यकता है।

सहायक तथा पठनीय पुस्तकें—

हिन्दी—भरत: नाट्य-शास्त्र; भारतेन्दु : नाटकावली (ना० प्र० सभा, काशी); श्यामसुन्दरदास: रूपक-रहस्य; जी० पी० श्रीवास्तव: लम्बीदाढ़ी, उलटफेर, भड़ामसिंह शर्मा, मरदानी औरत आदि; बदरीनाथ भट्ट: तुलसीदास, चन्द्रगुप्त, दुर्गावती, चुङ्गी की उम्मेदवारी, विवाह-विज्ञापन, मिस अमेरिकन; सीताराम: मृच्छकटिक; राजा लचमणसिंह: शकुन्तला (कालिदास); जयशङ्कर 'प्रसाद': अजातशत्रु, स्कंदगुप्त; द्विजेन्द्र: मित्र-मंडली; शिलीमुख: 'प्रसाद' की नाट्य-कला; सत्येन्द्र: मुक्ति-यज्ञ, कुनाल; पं० राधेश्याम कथावाचक: अभिमन्यु; उग्र: ईसानाटक; गुलाबराय-महेन्द्र: प्रसादजी की कला; सुमन: प्रसादजी की काव्य-साधना।

अंग्रेजी—Hasa: Dasrupe; S. K. De: A History of Sanskrit Litrature; A. W. Ward: English Dramatic Litratnre; Wilson: Hindu Dramas; Keith: Sanskrit Drama.

— ८ —

# "भूषण कवि और उनकी परिस्थिति"

## परिस्थिति का प्रभाव

कवि की रचना पर समय का प्रभाव अवश्य पड़ता है। उस पर परिस्थितियाँ भी कुछ न कुछ शासन अवश्य रखती हैं। 'समय' अपनी अनन्त गति से चलता हुआ कवि के स्थान में बसन्त के फूल खिलाता है, कभी पतझड़ कर देता है, कभी वर्षा की कोमल फुहार से उस उद्यान में रस बरसा देता है, और कीच-रपट भी कर देता है। वही समय बसन्त के बाद गर्मी, बरसात और फिर जाड़ा लाता है। वही समय एक अंकुर को उगा कर

उसे वृक्ष बना कर कलियों से लाद देता है और वे उसके अदृश्य कोमल स्पर्श से विकसित होकर फूल हो जाती हैं। एक कवि की प्रतिभा भी समय के इस अनन्त प्रभाव से बची नहीं रह सकती। समय रचनाओं को गति और विकास देता है, परिस्थितियाँ क्षेत्र और वातावरण। मेथी के खेत में उगी हुई मूली मीठी होती है।

कवि में दो बातें होती हैं–उसकी प्रतिभा और उसका व्यक्तित्व। प्रतिभा और व्यक्तित्व अपने गुणों में एक दूसरे से विषम होते हुए भी एक दूसरे से घनिष्टतापूर्वक सम्बद्ध हैं। एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। मनुष्य के व्यक्तित्व का संगठन बहुधा अपनी परिस्थितियों पर ही आश्रित रहता है। व्यक्तित्व की सीमा में ही प्रतिभा अपनी दिव्य ज्योति उत्कीर्ण करती है–व्यक्तित्व प्रतिभा के उत्पन्न होने का क्षेत्र है। देखें, भूषण के काव्य पर परिस्थिति का क्या प्रभाव पड़ा ?

## भूषण की परिस्थिति

भूषण का जन्म भारत के इतिहास के उस अशान्त युग में हुआ था जिस युग में मुग़ल-साम्राज्य सौ वर्ष की अवस्था भोगकर अपनी पुरानी सूखी हड्डियों के सहारे डगमगा रहा था, जिस समय औरंगज़ेब की धर्मान्धता के सन्निपात ने उसकी जर्जरित और शिथिल हड्डियों के संस्थान में पतन की ओर ले जाने वाला प्रकोप पैदा कर दिया था, जिस समय उस प्रकोप की प्रचंडता के असह्य झपटों से सारा भारत विकल हो रहा था,

जहाँ-तहाँ छोटे-मोटे राज्य उठ खड़े हुए थे और 'दिल्ली के पातशाह' को चैन न लेने देते थे-इसी अशांत युग में भूषण का जन्म हुआ था। दूसरी ओर भी अशांति थी। दक्षिण में महाराष्ट्र वीर शिवाजी हिन्दुओं की रक्षा के लिए सतत प्रयत्न कर रहे थे। इनका गेरुआ वैरख धर्म-ध्वजा के रूप में मुसलमानों के अनय और अत्याचार से पीड़ितों को अभय का सन्देश सुनाकर उनके संगठन का चिह्न सा हो रहा था। आये दिन मुग़लों और मराठों में युद्ध होते थे। आस-पास के छोटे-मोटे राज्य बीजापुर आदि तो त्रस्त हो ही बैठे थे। इस प्रकार उत्तर में 'मुग़ल-पातशाह' का पतन और दक्षिण में मराठों का उदय इस सन्धि और इस क्रान्ति के समय में ही भूषण का जन्म हुआ था। यह अठारहवीं शताब्दी का मध्य था।

## राजनैतिक अवस्था

प्राय: सारा भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। मध्य-भारत में बहुत सी छोटी-छोटी रियासतें थीं, ये राजपूत राजाओं के अधीन थीं। इनमें परस्पर बहुधा युद्ध होते रहते थे और मुग़ल सम्राट् की आड़े समय में सहायता करने के लिए भी इन्हें तैयार रहना पड़ता था। राजपूतों की इन्हीं छोटी-छोटी रियासतों में इस काल के अनेक कवियों को आश्रय मिला था।

भूषण ने एक स्थल पर ऐसे स्थानों का नाम गिनाया है, जहाँ कवियों का आदर होता था। वे कहते हैं—

मोरँग जाहु कि जाहु कुमाऊँ सिरी नगरै कि कवित्त बनाये।
बाँधव जाहु कि जाहु अमेरि कि जोधपुरै कि चितौरहि धाये॥
जाहु कुतव्व कै ऐदिल पै कि दिलीसहु पै किन जाहु बुलाये।
भूषण गाय फिरौ महि मैं बनि है चित चाह सिवाहि रिझाये॥

यहाँ मोरँग, कमायूँ, श्रीनगर, बाँधव (रीवाँ), आमेर (जयपुर), जोधपुर, चित्तौड़गढ़, बीजापुर, गोलकुण्डा, दिल्ली आदि स्थानों के नाम यह बतलाते हैं कि यहाँ के राजा कवियों का आदर करते थे। उल्लिखित स्थानों में से कमायूँ, जयपुर और रीवाँ तो स्वयं भूषण भी गये थे। इसके अतिरिक्त चित्रकूट के राजा के यहाँ भी भूषण गये थे। यहीं के शासक हृदयराम सुत रुद्रशाह ने इन्हें 'भूषण' उपाधि से विभूषित किया था। एक साधारण इतिहास का पढ़ने वाला इन राज्यों में से बहुतों के सम्बन्ध में कुछ भी न जानता होगा। ये बहुत छोटे राज्य थे। सभी प्रायः मुग़ल सम्राट् के करद राज्य थे। परन्तु औरंगज़ेब को दक्षिण की मुसलमानी रियासतों से युद्ध में व्यस्त देखकर इन राज्यों मे भी शान्ति न रह गई थी। पारस्परिक ईर्ष्या द्वेष के भाव प्रज्ज्वलित थे और इनके रहे-सहे जीवन के रस को शुष्क कर रहे थे। आमेर, मारवाड़ जैसे बड़े राजपूत राज्य सम्राट् औरंगज़ेब की सेवा और खुशामद में लगे रहते थे। सभी एक नशे में आँखें बन्द किये हुए निरन्तर आगे बढ़े चले जाते थे। चारों ओर घोर नैराश्य था। हिन्दू-प्रजा बुरी तरह सताई जाती थी, उसे धार्मिक कृत्य तक करने की सुविधा

न थी—प्रजा के मन में एक विकलता उठ पड़ी थी, 'रैयत' के हृदय में एक कसक थी।

प्रजा अब केवल यह सन्देश सुनकर ही सन्तुष्ट नहीं रह सकती थी कि 'जब-जब होहि धर्म की हानी' तभी भगवन् अवतार धारण करते हैं और 'भगत-भूमि-भूसुर-सुरभि' हित मनुज-चरित करते हैं। अब तो वे निश्चयात्मक शब्दों में यह सुनना चाहते थे कि 'औरंगज़ेब असुर अवतारी' के लिए 'व्रज-राज' ही शिवाजी के रूप में अवतीर्ण हो गये हैं।

जिन लोगों की ओर, जिन राजपूत राजाओं की ओर प्रजा किसी आशा से देख सकती थी, उनका रस चूसा जा चुका था। भूषण ने कितनी सुन्दरता-पूर्वक हिन्दू-राजाओं की दयनीय और असमर्थ दशा को दिखला कर उस समय की राजनैतिक स्थिति का चित्र अंकित किया है। वे कहते हैं—

राना भौ चमेलो और बेला सब राजा भये,
ठौर ठौर रस लेत नित यह काज है।
सिगरे अमीर आनि कुँद होत घर घर,
भ्रमत भ्रमर जैसे फूलन की साज है॥
भूषन भनत सिवराज वीर तैं ही देस,
देसन में राखी सब दच्छिन की लाज है।
त्यागे सदा षटपद पद अनुमान यह,
अलि नवरंगजेव चंपा सिवराज है॥

और भी स्पष्ट करते हैं—

कूरम कमल कमधुज है कदम फूल,
गौर है गुलाब राना केतकी विराज है।
पाँड़रि पँवार जुही सोहत है चंदावत,
सरस बुन्देल सो चमेली साजबाज है॥
भूषन भनत मुचकुन्द बड़गूजर है,
बघेले बसन्त सब कुसुम-समाज है।
लेइ रस एतेन को बैठि न सकत अहै,
अलि नवरंगजेब चम्पा सिवराज है॥

जब राजाओं की ऐसी दशा हो तब बेचारी प्रजा क्या करे ? मन्दिर गिराये, वेदों का पढ़ना रोका गया, हिन्दुओं की सुन्नत की गयी कलमा पढ़ने के लिए बाध्य किए गए ऐसी थी उस समय की राजनैतिक स्थिति। निराश प्रजा को शिवजी की विजय-गाथा सुनाना आवश्यक था।

## धार्मिक अवस्था

मुसलमानों की सभ्यता से संघर्ष होते ही भारत में एक विशाल परिवर्तन आरम्भ हो गया। १५ वीं और १६ वीं शताब्दी में यह परिवर्तन दक्षिण में भारी हलचल पैदा कर चुका था। इस हलचल ने भारत के धार्मिक वातावरण में एक नया रंग भर दिया। यह भक्ति का रंग था। भूषण यद्यपि इस भक्ति-धारा से सीधे प्रभावित हुए नहीं प्रतीत होते, तदपि जो समय के नसों में भिदा हुआ रस है वह कभी उस समय की कृतियों में बिना रमे नहीं रह सकता। इसका प्रभाव भूषण की

प्रवृत्ति पर इतना ही पड़ा कि उन्होंने जो लक्ष्य ग्रहण किया उसमें अनन्यता की झलक दिखायीपड़ती है। उन्होंने शिवाजी को विष्णु का सिद्ध अवतार माना और राष्ट्र को सन्देश दिया कि विष्णु अवतार ले चुका है। यह सामयिक सन्देश भारतीय जातीयता में एक नई विद्युत् भर सका। जो काम सूरदास ने कृष्ण की मनोरञ्जक लोक-विमुग्धकारी लीलाओं को सुना कर हमारी शिथिलता को दूर करने मे किया, और तुलसीदास ने 'रामावतार' की सम्भावना बता कर जिस आशा का जीवन हममें भर कर हमें खड़ा किया, उसकी सिद्धि की सूचना हमें भूषण ने देकर उस काम की अवतारणा पूरी कर दी। असुर अवतारी औरंगजेब के लिए शिवाजी व्रजराज होकर आगये हैं। जातीय जीवन जोश से उमड़ पड़ा और उसने सचमुच उन धार्मिक अत्याचारों का एक प्रकार से अन्त कर दिया। मराठा-स्वराज में राम-राज्य की कल्पना पूर्ण होती कुछ समय के लिए दिखाई पड़ी।

जिन दो सभ्यताओं का संघर्ष मुसलमानों के आने के समय से हुआ और जिससे मुक्ति पाने के लिए भक्ति-सम्प्रदाय ने भारतीय मस्तिष्क को निर्लिप्त बनाने के लिए प्रयत्न किया उस भक्ति का अन्त हम भूषण के समय के बाद देखते हैं। मुसलमानों का वह अत्याचार और भक्ति का भी स्रोत मन्द-सा पड़ गया। भारतीयों को शिवाजी में किसी अवतार की कला देख पड़ी और उन्हें यह बात ठीक ही समझ पड़ी कि "यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्" ॥

बस, भूषण ने घोषित कर दिया कि शिवाजी व्रजराज हैं। उन्होंने शिवाजी को विष्णुरूप में देखा और कहा—'और बाँभननि देखि करत सुदामा सुधि, मोहि देखि काहे सुधि भृगु की करत हौ ?'। भूषण में धार्मिक धारा के प्रवाह की झलक दीखती है। तुलसीदास के बाद सचमुच हिन्दू-जाति को भूषण की आवश्यकता थी।

धार्मिक परिस्थिति का एक और भी रूप था। भारतवर्ष के तत्कालीन शासन में तलवार और धर्म इन दोनों का विशेष हाथ था। वह तलवार का युग था। मुग़लों के राज्य की नींव तलवार की पतली धार पर रक्खी हुई थी। इसके साथ ही वह धार्मिक कट्टरता का भी युग था। तलवारों में राजपूती वीरता और मुसलमानी वीरता का सामना था। उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान धर्म का संघर्ष था। औरङ्गज़ेब के समय तक हिन्दू और मुसलमानी संघर्ष को, १००० वर्ष के लगभग हो चुके थे। एक धर्म ने दूसरे पर काफ़ी प्रभाव डाला था। दोनों ओर ही विचारों में विप्लव हुआ, सहन-शक्ति बढ़ी। यहाँ तक कि अकबर ने धर्मान्धता के पतनोन्मुखी परिणाम को समझ कर धार्मिक कट्टरता से अपना हाथ एक दम खींच लिया। उसने एक विभिन्न-जाति-संयुक्त राष्ट्र के प्रतिनिधि का सुन्दर आदर्श अपने रूप में भारत के इतिहास में उपस्थित किया। उसने राजपूतों से सम्बन्ध तक किये। यह अति दीर्घ-कालीन संघर्ष से घबरा उठने और थक जाने के कारण हुआ। परन्तु धर्म का 'जेहाद' (?) औरंगजेब के ज़माने में फिर उठ

खड़ा हुआ। यह धार्मिक विद्वेषानल हिन्दुओं के लिए घातक था। इसी ऐतिहासिक स्थिति को लक्ष्य कर भूषण ने लिखा है—

और पातसाहन के हुती चाह हिन्दुन की,
अकबर साहजहाँ कहैं साखि तब की।
बब्बर के तब्बर हुमायूँ हद्द बाँध गये,
दो मैं एक करी ना कुरान वेद ढब की।

परन्तु अब क्या हो गया ?

'कासी हू की कला जाती मथुरा मसीत होती,' और
······'सुनति होति सबकी'

मुग़ल-सम्राट के धार्मिक अत्याचार के कारण हिन्दू मात्र के हृदयमें यह भयंकर भय घर कर बैठा था। चारों ओर अत्याचार और उत्पात था। हिन्दू-धर्म की इस स्थिति को भूषण ने बार बार व्यक्त किया है। वे लिखते है—

'कुम्भकर्न असुर औतारी अवरंगजेब,
कीन्हीं कत्ल मथुरा दुहाई फेरी रब की।
खोद डारे देवी देव सहर मुहल्ला बाँके,
लाखन तुरुक कीन्हे छूटि गई सबकी।
भूषन भनत भाग्यो काशीपति विश्वनाथ,
और कौन गिनती में भूली गति भव की।'
और 'चारों वर्न धर्म छोड़ि, कलमा नेवाज पढ़ि'
'·········सुनति होति सबकी।'

हिन्दुओं में कायरता आगई थी, मुसलमानों में जोश था। हिन्दुओं को अपने देवताओं पर विश्वास न रहा था। भूषण

ने कुछ ऐसी ही ध्वनि में देवताओं का नाम लिया है—

गौरा गनपति आप औरन कें देत ताप
अपनी ही बार सब मारि गये दबकी

हिन्दुओं के समय भूषण की दृष्टि में, एक और गर्हित दृश्य था कि—

पीरा पयगंवरा दिगंवरा दिखाई देत,
सिद्ध की सिधाई गई रही बात रब की।

ऊपर की इन पंक्तियों में भूषण अपने हृदय की मार्मिक व्यथा को न छिपा सके। उन्होंने हिन्दुओं के भारी पतन की ओर इस पद्य में संकेत किया है।

## साहित्यिक अवस्था

हिन्दी-साहित्य में भक्ति-काव्य का स्रोत मन्दा पड़ गया था। केशवदास ने संस्कृत-साहित्य के 'साहित्य-सम्प्रदाय' के अध्ययन के बाद जो अलंकार, रस, नायक-नायिकाओं पर ग्रन्थ लिखे थे, उनका अनुकरण इस अठारहवीं शताब्दी में बड़े प्रबल वेग से होने लगा था। यह काव्य 'रीति-काव्य' कहा गया है। इस रीति काव्य की दो भारी विशेषतायें थीं—एक तो इसमें शास्त्रीय पद्धति के अनुसार अलंकार, रस, नायक-नायिका के ऊपर विचार किया गया, इनकी परिभाषाएँ की गयीं और प्रधानतः इन्हीं परिभाषाओं के उदाहरण-स्वरूप कुछ काव्य लिखे गये। ऐसे काव्य स्वभावतः ही स्फुट पद्यों के संग्रह-मात्र

थे। दूसरे इन उदाहृत-पद्यों में विशेषतः शृङ्गार-रस की प्रधानता रहती थी। 'रीति-काव्य' को पोषण करने में तत्कालीन कवियों के आश्रयदाता राजाओं की प्रवृत्ति का भी बहुत कुछ श्रेय था। उनकी दशा नैतिक दृष्टि से अत्यन्त दयनीय हो गयी थी। उनकी वीरता निश्चेष्ट होकर सो रही थी, आलस्य की सहजन्य विलासिता दोनों स्वर्णपरों को पसारे भारत के राजपूती भाग्याकाश में मुक्त होकर चक्कर काट रही थी। जो कुछ वीरता अथवा कार्यपरता शेष थी वह मुग़लों की दासता में दिल्ली तख्त को अपनी मर्यादा समझ उसकी असत्य हितचिन्तना में व्यस्त थी। फिर किसे छुट्टी थी, रोंगटे खड़े कर देने वाली वीर-भेदी सुनने की, कौन 'दिल्लीश्वरो परमेश्वरो' को छोड़ कर 'राम' अथवा 'कृष्ण' का नाम जपने के लिए अपना समय निकालता और कौन 'दिल्ली पादशाह' का कोप-भाजन बनने का साहस करता? भोग-विलास की मात्रा बढ़ी हुई थी, अभिसार और सहेट की बातों में, स्त्रियों के नख-शिख की सूक्ष्म विवेचना में, इशारेबाजियों और कनखियों में जो 'अदा' और 'अन्दाज़' था, जिसमें मुसलमानी चुलबुलाहट और मद के शरूर की साफ़ झलक थी, उसे छोड़कर राजाओं के लिए अपने मिजाज़ को ठीक रखने के लिए और क्या था? इसीलिए रीति-काव्य का इस काल में प्रणयन हुआ।

इस समय इसकी इतनी प्रबलता थी कि बिना अलंकार आदि विषयों पर शास्त्रीय पद्धति के अनुसार काव्य लिखे 'कवि

कहलाना कठिन था। इस काल में कवि अपने आश्रयदाताओं के सम्बन्ध में झूठी-सच्ची प्रशंसा करके अपना पेट पाला करते थे। भूषण ने इसी बात की ओर संकेत किया है। वे कहते हैं—

भूषन यों कलि के कविराजन,
राजन के गुन गाय नसानी।

उस समय प्राकृत की गुण-गाथा में अत्यन्त संलग्न सरस्वती सिर धुन कर पछता रही थी।

संस्कृत में इस समय एक विशेष प्रकार की प्रथा में ग्रन्थ लिखे भी जा रहे थे। कवि अपने आश्रयदाता राजा के यहाँ रह अलंकार आदि विषयों पर ग्रन्थ लिखता और उदाहरण के लिए अपने 'राजा' की प्रशंसा में बनाये हुए पद्य लिख देता था। इस प्रथा का आरम्भ सब से पहले दक्षिण में ही दिखाई पड़ता है।

१३ वीं शताब्दी में वारंगल (एकशिला) के काकतीय राजा प्रतापरुद्र के नाम से 'विद्यानाथ' नामक एक कवि ने 'प्रतापरुद्र-यशो-भूषण' ग्रन्थ रचा। इस कृति में उदाहरणार्थ दिये गये सभी पद्य प्रतापरुद्र, वीररुद्र अथवा रुद्र की प्रशंसा में लिखे गये हैं। पण्डित रामकर्ण कवि ने राजपूताने के किसी यशवंतसिंह राजा के नाम पर 'यशवंत-यशो-भूषण' लिखा। १४ वी शताब्दी के लगभग दक्षिण के अनन्तार्य ने 'कृष्णराज-यशो-डिण्डिम' लिखा। १५०५-१५०६ के लगभग गंगानाथ मैथिल कवि ने बीकानेर के श्रीकर्ण (लूणकर्ण) राजा की आज्ञा

से 'कर्ण-भूषण' ग्रन्थ लिखा। १७ वीं शताब्दी के आरम्भ में 'नञ्जराज' नामक राजा था। इसी के प्रशस्त यश के पद्य उदाहरण में देते हुए नञ्जराज के आश्रित कवि नरसिंह ने 'नञ्जराज-यशो-भूषण' शास्त्रीय पद्धति में लिखा। इस प्रकार 'भूषण' लिखने की प्रथा का तांता हमें संस्कृत में मिलता है, और दक्षिण में इसकी विशेष गति देख पड़ती है।

भूषण की राष्ट्रीय प्रतिभा को इस प्रगति ने आकर्षित किया और उन्होंने शास्त्रीयता के प्रभाव में आकर जो अलंकार-ग्रन्थ लिखा उसका नामकरण शैली के आधार पर 'शिवराज-भूषण' किया। इस प्रकार वे अपने समकालीन कवियों के 'नायिका' वर्णन के चक्कर से बचकर निकल गये। उनकी प्रतिभा ने, कम से कम हिन्दी में, एक नया मार्ग इस प्रकार उपस्थित किया।

यह परिस्थिति का ही प्रभाव था और उसकी अभिव्यक्ति करने के कारण भूषण हिन्दी के कवियों में अपनी निराली स्थिति रखते हैं।

### सहायक तथा पठनीय पुस्तकें

हिन्दी—भूषण ग्रंथावली; श्यामसुन्दरदास : भाषा और साहित्य;

अंग्रेज़ी—Griffith: A History of Mahratta Power;
Tod: Antiquities of Rajasthan Vols I-II;
S. K. De: A History of Sanskrit Litrature.

# सत्येन्द्रजी की अन्य रचनाएँ

## गुप्तजी की कला

कविवर मैथिलीशरणजी गुप्त के काव्य पर वैज्ञानिक ढँग की आलोचना, जिसमें उनकी नवीन से नवीन रचनाओं तक पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। गुप्तजी की कला को समझने के लिए इस पुस्तक का अध्ययन अनिवार्य है। मूल्य ॥।)

## मुक्ति-यज्ञ

हिन्दी साहित्य में यह नाटक अपने ढँग की एक अनूठी रचना है। साहित्यिक होते हुए भी मौलिकता, मनोरञ्जन और अभिनय तीनों की दृष्टि से यह नाटक अपूर्व है। बड़ा ही उत्साहप्रद है। मथुरा के चम्पा हाई स्कूल में बड़ी सफलता के साथ खेला जा चुका है। मूल्य १)

## कुनाल

यह अपने ढँग का नया मौलिक नाटक है। प्रो० सत्येन्द्रजी के अन्य नाटकों की भाँति यह भी रंग-मंच पर दृष्टि रखते हुए लिखा गया है। नाटक अभिनेय है। मुक्ति यज्ञ से इस नाटक में कितना परिवर्तन है, यह इसे पढ़कर ही कहा जा सकता है। वस्तु की सत्यता गम्भीरता के साथ ही इस नाटक में बैठ पाई है। मूल्य ॥)